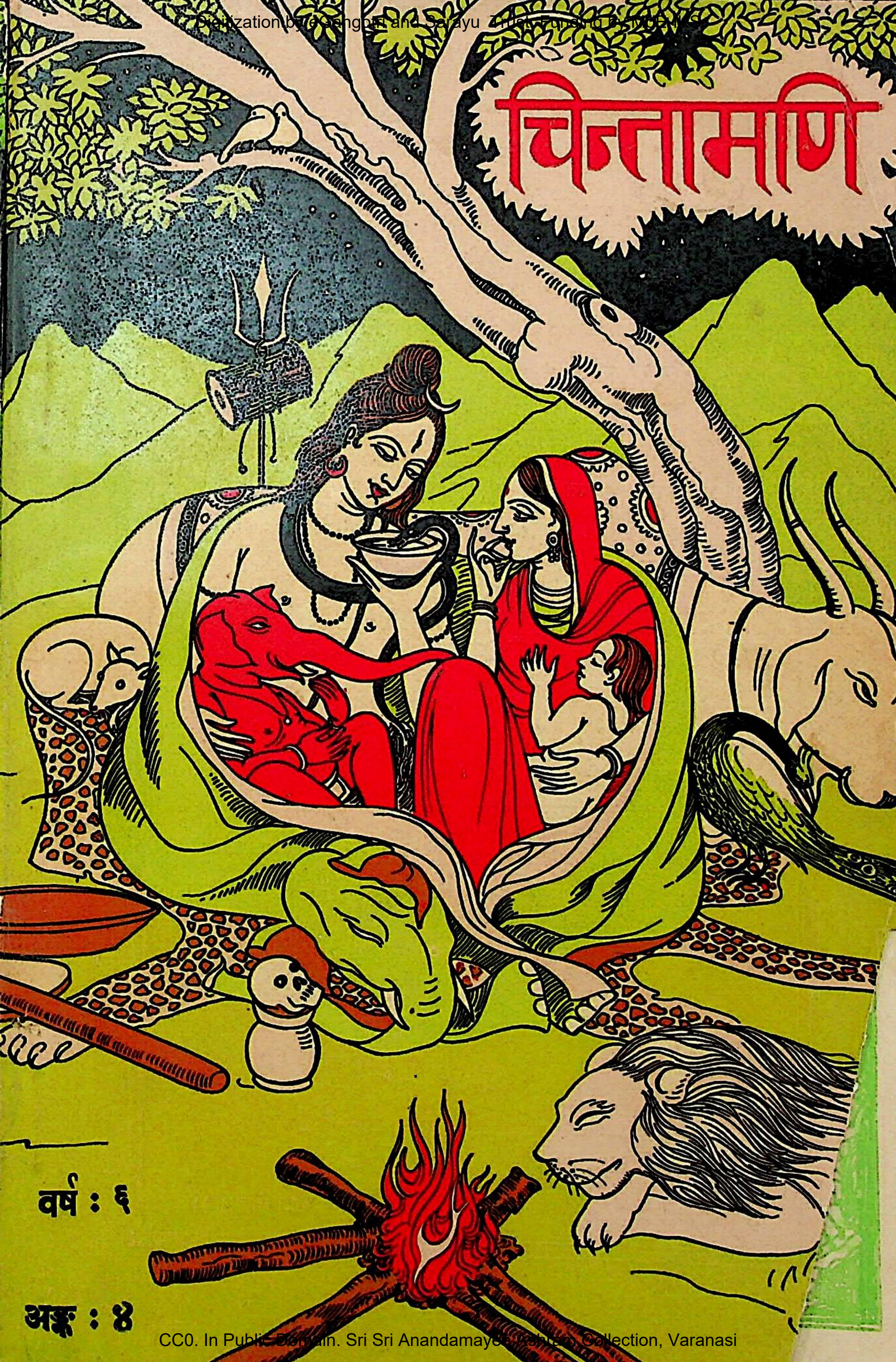

चिन्तामणि
वर्ष : ६
अङ्क : ४

- प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधि
- पुरुषार्थ-प्रतिपादक
- प्रसन्न-गम्भीर पत्रिका

वर्ष ६ : अङ्क ४

वार्षिक मूल्य : चार रुपये मात्र
एक प्रति : सवा रुपया



चिन्तामणि

संस्थापकः अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

सम्पादक

ब्र० प्रेमानन्द 'दादा' : विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

व्यवस्थापक

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट	आनन्दकानन
'विपुल'	सीके० ३६/२०
बी० जी० खेर मार्ग	ढुण्ढिराज
बम्बई-६	वाराणसी-१

चिन्तामणि

विषयक्रम

अवश्य पढ़ें ! ध्यान दें !

आवश्यक सूचना

'चिन्तामणि'के इस अंकके साथ छठा वर्ष समाप्त हो गया। 'चिन्तामणि'के सातवें वर्षके लिए शीघ्र ही वार्षिक शुल्क चार रुपये मात्रका मनीआर्डर भेजिये।

'चिन्तामणि'का कार्यालय केवल बम्बईमें ही रहेगा। अतः निम्नलिखित पतेपर ही पत्र-व्यवहार कीजिये और 'चिन्तामणि'का वार्षिक शुल्क भेजिये।—समयपर शुल्क न आनेपर आपको वी० पी० पी० का व्यय वहन करना पड़ेगा।

कृपया अपना पता स्पष्ट और पूरा लिखिये।

व्यवस्थापक—'चिन्तामणि'
२८/१६, बी० जी० खेर मार्ग
बम्बई—६

अगस्त '७२

वर्ष : ६ अङ्क : ४

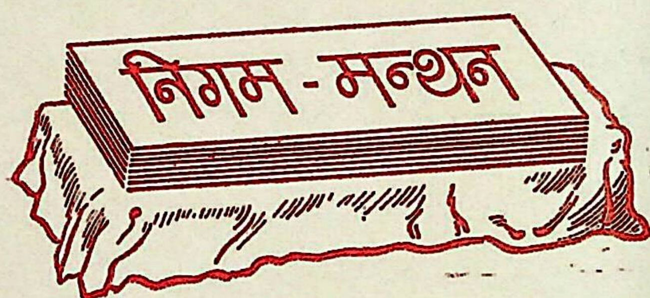
स्वस्त्ययन

(ऋग्वेद : मण्डल १०, सूक्त ७, मन्त्र १)

ॐ स्वस्ति नो दिवो अग्ने
पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यजथाय देव।
सचेमहि तव दस्म
प्रकेतैरुरुष्या ण उरुभिर्देव शंसैः॥

हे अग्निदेव ! परमात्मन् ! आप अचिन्त्य, अनन्त, दान, दया आदि कल्याण-गुणोंसे युक्त हैं। आप पृथिवी, अन्तरिक्षसे यज्ञके लिए सर्वान्न-उपयोगी पदार्थ दीजिये। हम सब उपद्रवोंसे रहित और सर्वान्नसे युक्त होकर यज्ञ-यागादि करते रहें। हम सबके साथ मैत्री करें और हे दर्शनीय ! हम तुम्हारे वर्णन करनेवाले अनेक प्रज्ञानोंसे युक्त हों। आप हमारी रक्षा कीजिये।





शान्तिसूक्त

(अथर्ववेद-का० १९, अनु० १, सूक्त ९)

ॐशान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम् ।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥१॥

द्युलोक शान्त हो। पृथिवी शान्त हो। यह दृश्यमान विस्तीर्ण अन्तरिक्ष शान्त हो। यह समुद्रका जल शान्त हो। और ये ओषधियाँ हमारे लिए शान्त हों।

यह सूक्त शान्ति प्रतिपादक है। इसके प्रयोगसे आयुष्य, शान्ति और स्वस्तिकी वृद्धि होती है।

इस सूक्तका देवता शान्ति है और प्रतिपाद्य भी शान्ति है। शान्ति माने हमारा कोई अनिष्ट न हो और सुख-समृद्धिके साधन बने।

द्युलोककी शान्तिका अर्थ है—द्युलोकमें जो दोष प्रकट होते हैं वह अपने दोषोंको पचा ले और स्वमूलक उपद्रवको शान्त करके हम लोगोंके लिए सुखदायी हो।

'पृथिवी शान्त हो'का अर्थ है—पृथिवीके भीतर स्वभावसे और निमित्तवश भी अनेकों दोष पैदा होते रहते हैं; वे शान्त हो जायँ।

पृथिवी और द्युलोकके बीचमें अत्यन्त विस्तीर्ण और उदीर्ण अन्तरिक्षलोक है। अन्तरिक्षका अर्थ है—अन्तराक्षान्तम्=मध्यमलोक। यह द्युलोकके देवता और पृथिवीके मर्त्य—दोनोंको जोड़नेकी एक कड़ी है। इसमें पशु-पक्षीसे लेकर ग्रह-नक्षत्र तक विहार करते हैं। इसमें जब कोई उपद्रव होता है तब देवता

और मनुष्य दोनों ही दुःखी हो जाते हैं। वातावरणको दूषित करनेवाली क्रियाएँ, वस्तुओंका प्रयोग, आणविक विस्फोट आदिके कारण अन्तरिक्ष उपद्रुत हो जाता है। वह हमारे लिए शान्त रहे। उसकी शान्ति ही हमारे सुखका कारण है।

जलसे भरे हुए को उदन्वान् कहते हैं। यह समुद्रकी ही एक संज्ञा है। इसका जल शान्त रहे। जलके भीतरसे या बाहरसे कोई ऐसा कार्य न किया जाय जिससे प्राणिमात्रका अनिष्ट हो। प्राणी जलके भीतर भी रहते हैं और बाहर भी। दूषित जलसे संपृक्त वायु जीवोंको हानि पहुँचाती है।

ओषधि—जो अपनी परिपाक दशामें हमारे लिए कल्याणकारी होती हैं। उनका जीवन अपने परिपाक द्वारा हमारे जीवनको परिपुष्ट करता है और अनिष्टको दूर करता है। वे चाहे पृथिवीमें लगी रहें और चाहे उनका विधिपूर्वक उपयोग कर लिया जाय। वे जीवन-विरोधी दोषोंको नष्ट करती हैं और गुणोंका आधान करती हैं। इसलिए वे शान्त रहें अर्थात् वे किसी भी बाह्य-आभ्यन्तर निमित्तसे उपद्रवकारिणी न बनें।

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ २ ॥

हमारे पूर्वरूप शान्त हों। हमारे कृताकृत शान्त हों। हमारे भूत-भव्य शान्त हों। हमारा सब कुछ शान्त ही हो।

जब कुछ भी कार्य होता है तो उसका कोई न कोई कारणावस्थापन्न पूर्वरूप होता है, जैसे किसी रोगका निदान=आदि कारण होता है। यदि वही शान्त रहे तो रोगकी उत्पत्ति न हो। हमारे जीवनमें जो कुछ हो रहा है और जो कुछ होनेवाला है, उसका पूर्वरूप अनर्थका उत्पादक न हो, सुखकारी हो।

इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि हमने पूर्वजन्मोंमें जो दुष्कृत किये हैं वे शान्त हों। यदि यह प्रश्न हो कि जो कर्म हो चुके हैं उनका तो भोगसे ही क्षय होता है फिर इस शान्ति-आशंसनका क्या अर्थ है? ठीक है, अब वे दुष्कृत तो नहीं रहे परन्तु उनके फलस्वरूप पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म हो सकता है। अतः उनकी शान्तिका आशंसन भी युक्ति-युक्त है।

'कृताकृत' शब्दका अर्थ है—करना और न करना। अभिप्राय यह है कि जो कर्म हमारे लिए विहित थे, कर्तव्य थे, उन्हें तो मैंने नहीं किया। वे अकृत हो गये। और जिन्हें नहीं करना चाहिए था—निषिद्ध थे, वे कृत हो गये। इस प्रकार विहित कर्मका अनुष्ठान न करनेसे और निषिद्ध कर्मका आचरण करनेसे, आश्रम-विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मके अननुष्ठानसे जो दोष उत्पन्न हुआ

हो, वह शान्त हो। मनुष्यके पतनके तीन कारण हैं—गुरु-शास्त्रकी आज्ञाका उल्लंघन, उनके द्वारा निषिद्धका सेवन और अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखना।

भूत और भव्य—जो कार्य फलके रूपमें उत्पन्न हो गया है रोग, दुःख, आधि, व्याधि, वह भूत है और जो अभी फलावस्थाको प्राप्त नहीं हुआ है, आगे होनेवाला है, वह भव्य है। वे दोनों शान्त हो जायँ। अभिप्राय यह है कि आया हुआ और आनेवाला—दोनों प्रकारके अनिष्टोंकी शान्ति हो।

बहुत कहनेसे क्या लाभ! सब कुछ—कालत्रयावच्छिन्न, उक्त, अनुक्त सभी कुछ हमारे दोषोंको शान्त करनेवाला हो। मुख्यतः दोष तीन प्रकारके हैं—रोग, द्वेष और मोह। ये तीनों हमारे हृदयमें स्थान न बनावें।

इयं या परमेष्ठिनो वाग् देवी ब्रह्मसशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥३॥

यह वाग्देवी (वाणी) परमेष्ठिनी है, सर्वोपरि स्थित है अथवा परमेष्ठी ब्रह्माकी शक्ति है (इसमें सृष्टिके निर्माणका सामर्थ्य है)। वेदमन्त्रोंने इसके स्वरूपका प्रतिपादन (शंसन) किया है (स्तुति करनेसे देवताका बल बढ़ता है और कार्यक्षम होता है)। विद्वानोंने अपने भीतर इसका ठीक-ठीक अनुभव किया है। इस वाणीरूप वाग्देवीके द्वारा घोरकी सृष्टि की गयी है अर्थात् किसीको शाप दिया गया है तो किसीके हृदयमें चोट पहुँचायी गयी है। अब यही वाणी हमारे लिए शान्तिकारक हो, अर्थात् अपने द्वारा जो भयोत्पादक, दुःखदायक वचनोंका उच्चारण किया गया है उस घोर कर्मकी शान्ति हो। वाणीसे ही अनर्थकी उत्पत्ति हुई है और वाणी ही उस अनर्थको शान्त करे। इसका अभिप्राय यह है कि अब हम अपनी वाणीसे ऐसे कटु वचनका उच्चारण न करें जिससे दूसरेके हृदयमें चोट लगे, दुःख हो; अनिष्ट वा अनर्थकी सृष्टि हो।

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥४॥

परमेष्ठी = ब्रह्मा सर्वोत्कृष्ट स्थानपर स्थित हैं। उन्होंने ही इस असत् मनको सत् बनाया अर्थात् मनकी सृष्टि की। तदनन्तर मनको सृज्य विषयमें तीक्ष्ण बनाया। यही मन सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण है। इसी मनसे घोर कर्मोंकी सृष्टि की गयी। अब इसी मनके द्वारा उन घोर कर्मोंकी हमारे लिए शान्ति हो।

सृष्टि-प्रपंचका मूल कारण मन ही है। इसीसे घोर कर्म और शान्ति कर्म—दोनोंका निर्माण होता है। घोरसे बन्धन और शान्तिसे मुक्ति। यहाँ

श्रौत-साधनाका सम्प्रदाय है। इसे प्रवृत्ति-निवृत्ति भी कहते हैं। प्रमाणवृत्ति अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य-बोध साधनजन्य नहीं है, केवल महावाक्यजन्य है। तान्त्रिक-पक्षमें, इस मन्त्रमें मनसे घोर और अघोर दोनोंका संकेत है। संवित्का औन्मुख्य-जागरण अभीष्ट है। मन किसी भी दशाको साधन और असाधन बना सकता है अतः मन सर्वदा आत्मबलका स्पर्श करता रहे; केवल विषयमें अर्थात् देहाभिमान, दैहिक सम्बन्ध और भोगोंमें डूब न जाय। यह मन ही शान्तिका हेतु है।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः
षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं
तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥५॥

मेरे हृदयमें यह जो छठे मन सहित पाँच इन्द्रियाँ निवास करती हैं, वे ब्रह्माके द्वारा अर्थात् चेतन आत्मा नियन्ताके द्वारा अपने-अपने विषयमें प्रवण होनेके लिए बनायी गयी हैं। इन्हीं इन्द्रियोंसे घोर अर्थात् पापावह कर्म किये जाते हैं। इन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा अब ऐसे कर्म किये जायँ जिनसे हमारे लिए घोर कर्मोंकी शान्ति हो जाय।

इसके पहले मन्त्रमें मनका अलगसे वर्णन है। फिर भी इस मन्त्रमें मनके वर्णनकी आवश्यकता है; क्योंकि कोई भी इन्द्रिय मनकी सहायताके बिना अपने-अपने विषयका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। बिना मनके इन्द्रियोंके द्वारा कोई कार्य हो भी जाय तो पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती। कर्तृत्व-बुद्धि अथवा अपेक्षा बुद्धिसे किये हुए कर्म ही अदृष्ट या संस्कार उत्पन्न करते हैं। उन्हींका फल होता है। इसलिए मनका पुनः वर्णन करना उचित है।

हृदय मनका निवासस्थान है। सुषुप्तिकालमें सभी इन्द्रियाँ अपने विषयोंको छोड़कर अपने हृदयमें लीन हो जाती हैं।

'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है—चेतन आत्मा। यदि वह प्रेरणापूर्वक इन्द्रियोंको विषयोंमें न भेजे तो पाप-पुण्यका प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए **ब्रह्मणा-संशितानि** का अर्थ है—कर्तृत्वपूर्वक।

पाप-पुण्यकी उत्पत्ति वाणी, मन और इन्द्रियोंसे होती है। उन्हींसे सुख-दुःख होता है। इसलिए यदि पुरुष सावधानीसे इनका प्रयोग करे तो यही शान्तिदायक भी हो सकते हैं। शान्ति जीवनमें ही मिलती है और इसके लिए इनका सत्प्रयोग आवश्यक है। (म० श्री०)

श्रीराधा-सुषमा

रूपरासि श्रीराधारानी अद्भुत आज बनी।
जगमगात नव केलिकुञ्जमें जिमि मणिदीप-अनी ॥ १ ॥
प्रीति-रीतिकी मोहिनि मूरति सुखमा-सील-खनी।
जाकी कृपा-कोर अवलोकत निसि-दिन स्याम धनी ॥ २ ॥
अंग-अंग छलकत अनंग-छबि प्रतिम-प्रीति सनी।
तृन तोरत निहार नख-सिख-छवि माधव मधुप-मनी ॥ ३ ॥
कनक-कान्ति-कमनीय कलेवर नील निचोल बनी।
जलदपटल दमकत दामिनि सों सोहत जनु रजनी ॥ ४ ॥
अंग-अंग आभूसन झलकत मानहुँ नखत-अनी।
अथवा अमल कमल-सम्पुट पहँ सोहत सलिल-कनी ॥ ५ ॥
झनकारत पायल पायनमें, सुनि-सुनि सुभग ध्वनी।
सुन्दर स्याम सिहात चकित चित सहमत रति रमनी ॥ ६ ॥
कहा कहौं सुखमा या छबि की जात न कछु बरनी।
पामर जीव कहो किमि जानै, जानत स्याम गुनी ॥ ७ ॥
सकल सिंगार-सार श्रीस्यामा व्रज-नवयुवति-मनी।
चरन-सरन दै पोसहु प्यारी! जानि चेरि अपनी ॥ ८ ॥

—'सनातन'

स्पन्द-तत्त्व

अनन्तश्री
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

सिद्धपरम्परामें अत्यन्त प्राचीनकालसे परमतत्त्वका ही एक नाम 'स्पन्द' प्रचलित है। शुद्धात्मा, शंकर, शिव, भाव, स्वभाव, ज्ञाता और सामान्य—ये इसके नामान्तर हैं। कश्मीरी 'प्रत्यभिज्ञादर्शन'के नामसे भी यह जाना जाता है। सर्वदर्शन-संग्रहमें इसको 'शिवदर्शन' कहा गया है। अभिनव गुप्तकी साधनपद्धतिसे इसका मेल है। आचार्य भट्ट कल्लटने अपने गुरु वसुगुप्तसे इसका रहस्य प्राप्त करके पचास कारिकाओंमें निबद्ध कर दिया था। दसवीं शताब्दीके मध्यमें उत्पलाचार्यने 'स्पन्द-प्रदीपिका' के नामसे इसपर टीका लिखी। यह पुस्तक संस्कृत-भाषामें है और केवल एकबार सन् १८९८ ई०में मेडीकलहाल प्रेस, काशीसे प्रकाशित हुई थी। हिन्दी पाठकोंकी जानकारीके लिए इसका सार-संक्षेप प्रस्तुत है।

स्वयं परमतत्त्व स्पन्द ही शब्द द्वारा अपनेको अभिव्यक्त करता है (आगम-रहस्य एवं षाड्गुण्य-विवेक)। जैसे सतमंजिले महलपर चढ़नेके लिए सोपानकी और नदी पार करनेके लिए नावकी आवश्यकता होती है, वैसे ही भगवान् शास्ताके अधिगमके लिए शास्त्रकी अपेक्षा होती है (पञ्चरात्र)। सिद्ध एवं साधारण पुरुषमें एक विलक्षण सम्बन्ध होता है, उसके बिना इस यथार्थ तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती। इस ग्रन्थमें स्पन्द वाच्य है और शब्द वाचक है। 'स्पन्द' शब्दका अर्थ होता है—किञ्चित् हिलना। निस्तरङ्ग परमात्मामें जो एकसाथ सर्वरूपसे उन्मुख होनेकी योग्यता है वही किञ्चित् चलन है। इससे उसकी निर्विकल्पताका भंग नहीं होता। व्यवहारमें जितने ज्ञान होते हैं उनमें पदार्थोंके उदयका क्रम होता है परन्तु उनसे विलक्षण एक अनन्त चिद्रूप प्रमाता है, संविद् है। वस्तुतः वही महेश्वर है। उसीसे सभी भेदोंकी सिद्धि होती है (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)। यही चित्, संवित्, ज्ञान और बोधके नामसे भी प्रसिद्ध है। वस्तुतः यही निरावरण चित्स्वरूप होनेके कारण दिक्कालादिके अवच्छेदसे रहित है, अद्वितीय है और यह केवल श्रद्धागम्य अथवा परोक्ष नहीं

है, स्वानुभवैक्यप्रमाण है। यही शक्ति-चक्रका परमेश्वर आत्म-चिन्तामणि है। यही उपेय होनेके कारण अभिधेय है।

अच्छा, तो यह चिन्तामणि क्यों है? यह शास्त्रोंके द्वारा उद्घोषित स्वानुभूति होनेके कारण। पौष्कर संहितामें कहा गया है—चिन्तामणिमें ढूँढ़नेपर स्वरूपतः किसी वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु जो चाहो वही वह दे देती है। सर्वशक्ति ब्रह्म ऐसा ही है।[1] परमार्थसारमें भी कहा है—भगवान् तो सब कुछ है परन्तु जिस-जिस भावसे उसकी उपासना की जाती है, चिन्तामणिके समान वही-वही होकर मिलता है।[2] ज्ञानसम्बोधमें भी ऐसा ही है। ज्ञानकी शक्ति स्वभावसे एकरूप होनेपर भी संकल्पभेदसे नानात्वको प्राप्त हो जाती है। जैसे एक ही चिन्तामणिसे लक्ष्मी अनेक रूप धारण कर लेती है।[3] इसीसे इसका नाम शिवशंकर है; क्योंकि यही आत्यन्तिक श्रेयका मूल है। वस्तुतः वह निर्नामक है। अभेदार्थ-कारिकामें सिद्धनाथने कहा है—परमार्थवस्तु भावशून्य, अग्राह्य और निराकार है। उसका शिव नाम भी कल्पनामात्र ही है। परमार्थ वस्तुमें न कहीं परिणाम है, न विवर्त। अथवा दोनों ही हों तब भी परमार्थ वस्तुके कोई खण्ड-खण्ड नहीं बनते।[4] संवित्-प्रकाशमें भी यही बात कही गयी है—निर्मलबोधैकस्वरूप परमार्थमें विवर्त और परिणाम दोनोंसे ही देह-परिग्रहकी सिद्धि हो सकती है। परमार्थ अच्युत है। विवर्तमें वैसा न होकर भी वैसा भासता है। परिणाममें भी वही है जैसे कुण्डलमें सुवर्ण।[5]

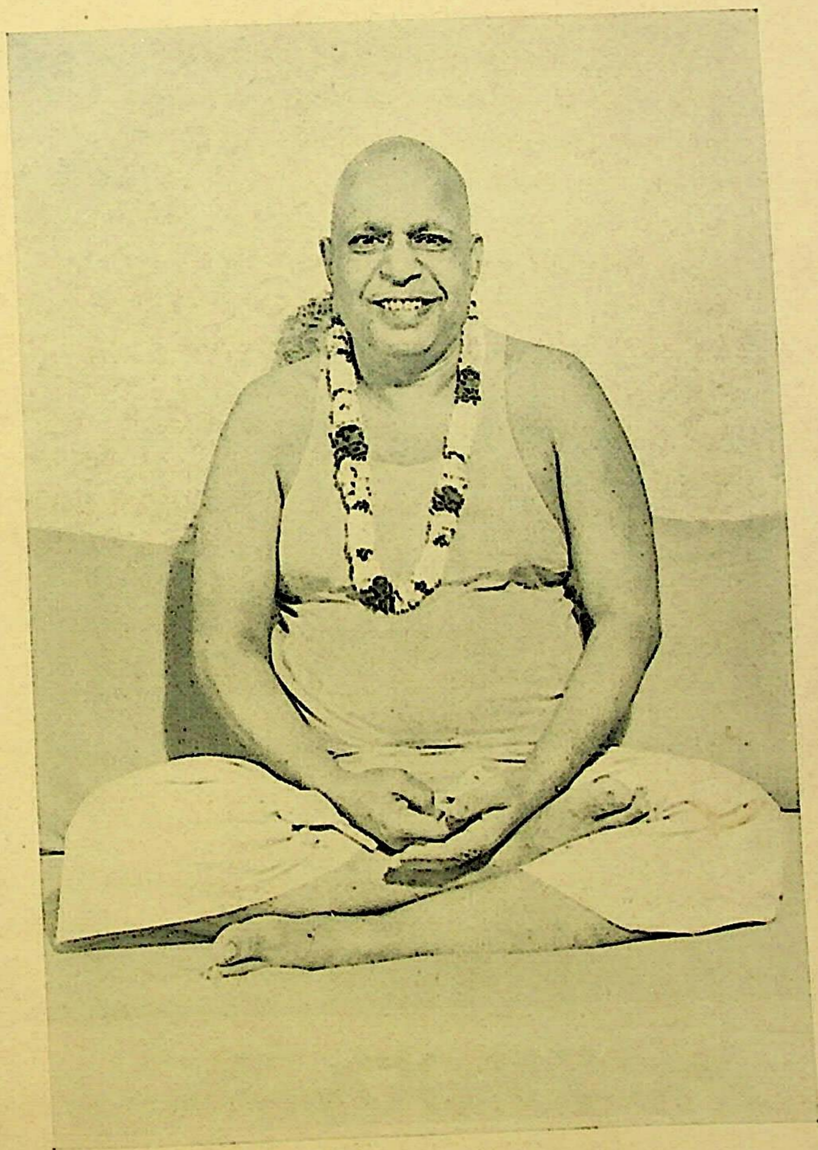
१. चिन्तामणौ स्वरूपेण न किञ्चिदुपलभ्यते।
अथ चाभिमतं सूते ब्रह्मैवं सर्वशक्तिकम्॥

२. सर्वाकारो भगवानुपास्यते येन येन भावेन।
तं तं भावं भूत्वा चिन्तामणिरिव समभ्येति॥

३. स्वभावादेकरूपाणि नानात्वं प्रतिपद्यते।
ज्ञानस्य शक्तिः संकल्पैर्लक्ष्मीश्चिन्तामणेरिव॥

४. वस्तुनो भावशून्यस्य स्वग्राह्यस्य निराकृतेः।
कल्पनामात्रमेवैतत् यच्छिवव्यपदेशनम्॥
नेत्थं विभोर्विवर्तोऽस्ति परिणामश्च न क्वचित्।
अथ वा द्वयमप्यस्तु तथाप्यस्य न खण्डना॥

५. इति निर्मलबोधैकरूपे देहपरिग्रहः।
विवर्त - परिणामाभ्यां द्वाभ्यामप्युपपद्यते॥
विवर्तेऽप्यतथारूपस्तथा भासि स्वमच्युत।
परिणामे स एव त्वं सुवर्णमिव कुण्डले॥



अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

अब प्रश्न यह है कि ऐसा तत्त्व निरावरण कैसे है ? हम तो जहाँ देखते हैं वहाँ उसको सुख, दुःख, मोह, स्पन्द, निःस्पन्द आदि गुणोंसे आवृत ही देखते हैं। इस आक्षेपका समाधान यह है। ये सुख-दुःखादि ज्ञेय होनेके कारण स्वयं सत्ताशून्य हैं। ज्ञाताके आश्रयसे ही इन्हें प्रतिष्ठा-सी प्राप्त होती है। जिनकी बुद्धि अप्रबुद्ध है, वे अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूपका परित्याग करके कामनावश अहंभावसे तादात्म्यापन्न हो जाते हैं और अपने अनन्तस्वरूपको संकुचित (छोटा) कर देते हैं और यह संकोच केवल अविद्याकृत है। निज संवित्-स्वरूप तो अद्वितीय ही है। अतः स्वरूपस्थित महापुरुषोंको यह भ्रम नहीं होता है। आगे चलकर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

धातुसमीक्षामें कहा गया है—यह अविद्याशबल आत्मा ही प्रमेयके रूपमें स्थित है अर्थात् द्रष्टा और दृश्यका भेद सच्चा नहीं है। अविद्या शबलित आत्माने अपने निज स्वरूपका ग्रहण नहीं किया। अविद्या स्वयं अनृत है, असत्य है। अनृत वस्तु नहीं होती। अवस्तु वस्तुका नाश या विकार नहीं कर सकती। अन्धकारसे आच्छादित होनेपर भी रज्जुखण्डमें कोई विकार नहीं होता और न तो नाश ही होता है। इसीप्रकार अविद्यासे आत्मामें कोई विकार या नाश नहीं होता। अतः इस ज्ञानरूप परमात्मामें न स्वतः बन्धन है, न परतः। अज्ञातसे ही यह बद्ध जान पड़ता है और अज्ञान मिट जानेपर मुक्त तो पहलेसे है ही।[1]

तत्त्वयुक्तिमें कहा गया है कि संसारके प्राणी जिन-जिन भयङ्कर कर्मोंसे बँधते हैं, वे भी मुक्तिके उपाय ही हैं। किन्तु मूर्खतावश वे उसीसे भवबन्धनसे मुक्त नहीं हो जाते। कुलयुक्तिमें भी कहा गया है कि पतन और अभ्युत्थान दोनोंका एक ही कारण है। अज्ञानी जिससे बँधता है, ज्ञानी उसीसे मुक्त होता है। उत्पलाचार्यका कहना है कि जिन कारणोंसे मूर्ख दुखी होता है, उन्हींसे

---

१. अविद्याशबलस्यास्य स्थितं मेयत्वमात्मनः।
गृहीतं न निजं रूपं शबलेन तदात्मना॥
सा चाऽनृतात्मिकाऽविद्या नानृतस्य हि वस्तुता।
नाऽवस्तु वस्तुनो नाशं विकारं वा करोत्यतः॥
नाच्छादितस्य तमसा रज्जुखण्डस्य विक्रिया।
नाशो वा क्रियते यद्वत् तद्वन्नाऽविद्ययाऽऽत्मनः॥
नाऽतः स्वतो न परतो बन्धोऽस्य परमात्मनः।
बद्धोऽस्याऽविद्यया जीवो मुक्तिस्तस्य हि तत्क्षये॥

प्रज्ञावान् दुःख पार हो जाता है। लोहेका गोला पानीमें डूब जाता है और उसीका पात्र बना दें तो तैरने लगता है।[1]

गीतामें भी स्पष्ट कहा गया है कि जिसमें सारी कामनाओंका प्रवेश हो जाता है, उसीको शान्ति मिलती है, कामकामीको नहीं (२.७०)। इससे भी पहले राग-द्वेष रहित इन्द्रियोंसे किये गये भोगको प्रसादका साधन कहा गया है (२.६४)। एक महात्माका वचन है—जो परमार्थ-ज्ञानी आत्मभावका परित्याग किये बिना विषयोंपर अनुग्रह करते हैं वे ही जीवन्मुक्त हैं। विषय आत्माके ही स्पन्द हैं; जैसे नट अन्य रूपमें प्रतीत हो।[2] चिच्छक्ति-संस्तुतिमें योगिनाथने कहा है कि शक्तिकी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे ही उदय और प्रलय होते हैं। अतः ये सब शक्तिके ही स्पन्द हैं। सादृश्य न होनेपर भी ये ठीक वैसे ही हैं जैसे अग्निसे धूएँका निकलना, आकाशमें नाना आकृतियोंका दीखना। अद्वैत परमात्मामें यह द्वैतरूपा सृष्टि वैसी ही है। सूर्योदयके पूर्व नाकसे पानी निकलने लगता है साकार और सूर्योदय होनेपर वह शान्त हो जाता है निराकार।

अब इसी विषयपर विचार प्रारम्भ करते हैं। क्योंकि शास्त्रका प्रयोजन है उपाय और उपेयका प्रतिपादन। उसके ज्ञानसे उपेयस्वरूपकी अनुभूति स्थिर हो जाती है। यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि यह दर्शन स्वतन्त्र है और इससे अद्वैत-प्रतिपादक शास्त्रोंकी सङ्गतिमें कहीं बाधा नहीं पड़ती। विमर्शस्वरूप स्पन्दभूमिपर आरूढ हो जानेपर पश्यन्ती आदिके क्रमसे वाणीकी उत्पत्ति होती है और 'संवित्प्रकाश' के अनुसार वह वाणी ही विश्वका उदय-विलय करती है, कार्यानुरूप नाम धारण करती है और चराचरकी विचित्र जीवन-यात्राका निर्वाह करती है। प्रणयन और संकोच—दोनों उसीके रूप हैं। इन्हींमें नाम-रूप तथा व्यवहारका निर्वाह निवास करता है। यदि इस शक्तिकी सत्ता स्वीकार न करें तो किसी वादीकी ही सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि वादका प्रकाशक भी यही है। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' में इसको आदिसिद्धि कहा गया है। यह अपना आत्मा आदिसिद्ध, ज्ञाता, कर्ता एवं महेश्वर है। कोई भी

१. सीदति येनैव जडः प्राज्ञस्तेनैव सन्तरति दुःखात्।
पिण्डितमयोऽप्सु मज्जति तदेव पात्रीकृतं प्लवते॥

२. असन्त्यक्तात्मभावानां विषयाननुगृह्णताम्।
विज्ञातपरमार्थानां जीवतामेव मुक्तता॥
ते चैवास्यात्मनः स्पन्दो नटस्येवान्यरूपता।

चेतन पुरुष इसका निषेध अथवा सिद्धि करनेके लिए अपेक्षित नहीं है। जिससे सब सिद्ध होता है, वही आत्मा है। सबका निषेध करने पर जो शेष रह जाता है, वही तो आत्मा है।[1]

ऐसे सम्पूर्ण विषयाकार-वृत्तियोंके आदि, मध्य, अन्तमें प्रकाशमान स्वयं सिद्ध परमार्थके सम्बन्धमें विप्रतिपत्ति (अग्रहण अथवा अन्यथा ग्रहण, संशय) होनेका कारण केवल मोह ही है। जैसे कोई छोटा राजा चक्रवर्ती सम्राट्से कुछ थोड़ी-सी चतुरंगिणी सेना और सामग्रीकी याचना करके प्राप्त कर ले और फिर उसीसे साम्राज्य छीननेके लिए युद्ध करे तो वह छोटा राजा अपना विनाश ही कर बैठता है, वैसे ही आदिसिद्ध आत्मासे शक्ति प्राप्त करके जो वृत्ति या वृत्त्यारूढ पदार्थ आत्माका ही अपलाप करता है; अन्ततोगत्वा उसकी च्युति निश्चित है। इसप्रकार इस आत्मसत्ताका किसीसे पराजित न होना स्वतःसिद्ध है। कारिकाका प्रथम श्लोक यह है—

यस्योन्मेष-निमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः ॥ १ ॥

मंगल श्लोकमें शंकरकी स्तुति-नति है। जो भोग और मोक्ष, श्रेय और प्रेय—दोनोंका दाता है, वह शंकर है। निर्मलता अर्थात् अद्वैत ही उसका स्वभाव है। इस सिद्धान्तमें जीवन्मुक्ति ही मोक्ष है। संविद् ही ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता एवं ईश्वर है। यह कोई अध्यारोप अथवा अध्यास नहीं है। इस संविद्में एक साथ सब है। 'सर्वज्ञभैरव'में कहा है—किसी और स्थानपर जाना या कोई स्थान-विशेष मोक्ष नहीं है। अज्ञान-ग्रन्थिका खुल जाना ही मोक्ष है।[2]

महाभारतके मोक्षधर्ममें राग-द्वेषादि क्लेशसे दूषित चित्तको ही संसार और उनसे विनिर्मुक्त चित्तको मोक्ष कहा गया है। बौद्ध सिद्धान्तमें भी रागादि-मलिन चित्तको संसार कहा गया है और पवित्र चित्तको मोक्ष। 'नारदसंग्रह'-का भी यही कहना है कि सभी विकल्प संसार है। विकल्पके अतिरिक्त कोई बन्धन नहीं है। ग्रन्थकर्ताका कहना है कि बन्धन, बन्धनकर्ता और बद्ध—ये तीनों एक ही हैं। सब अपने विकल्पसे ही बँधे हुए हैं। 'आत्मसप्तति'में उल्लेख है कि

---

१. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ? ॥

२. नान्यत्र गमनं स्थानं मोक्षोऽस्ति सुरसुन्दरि।
अज्ञानग्रन्थिभेदो यः स मोक्ष इति कथ्यते ॥

वस्तुस्थितिसे बन्धन नहीं है, फिर मुक्ति कहाँ होगी। दोनोंको विकल्पने गढ़ा है। वस्तुत: बन्धन-मुक्ति कुछ नहीं है। 'पंचरात्र'में आत्मसंवित्के लिए भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर एवं सर्वशक्ति शब्दका प्रयोग किया गया है। 'भगवान्' शब्दकी वही व्याख्या है जो वैष्णवमतमें। यदि भगवान् और संवित्की अभिन्नता अभिमत न होती तो एकतत्त्वमें स्तोता, स्तुत्य और स्तुतिका भेद कहाँ-से आता? जैसे अपनी छायाका उल्लंघन सम्भव नहीं है, वैसे ही अद्वैतका उल्लंघन सम्भव नहीं है। ज्ञेयको अपने स्वरूपसे एक करके ज्ञानको देखो; फिर ज्ञान और ज्ञेयका कोई भेद नहीं है। ये सारे भेद केवल शाब्दिक हैं और वह भी केवल विकल्प। शब्दका कारण विकल्प है और विकल्पका कारण शब्द। 'राहुका सिर' अथवा 'घृतकी धारा'—इन वाक्योंमें प्रतीयमान भेद केवल विकल्प ही है। जो अपने संविद्में अभिन्न है वह वाग्व्यवहारका विषय होनेपर भी अभिन्न ही है।

व्यवहारका निर्वाह वचनसे ही सम्पन्न होता है। 'संवित्प्रकाश'में कहा गया है कि इस विश्व-व्यवहारका कारण वाक् ही है। यह युक्तिसिद्ध है, केवल शास्त्रोक्त परोक्ष स्वर्गवत् नहीं है। कोई कार्य बिना संकल्पके नहीं होता और वाक्के बिना कोई विकल्प नहीं होता। इस वाक्का मूल बोध है, आत्मा है। 'जयाख्यसंहिता'में इससे विस्तारसे उपपादन किया गया है। मात्रा, अतिसूक्ष्म, परम, मध्यम, स्थूल और स्थूलतर शब्दके अनेक भेद होते हैं। प्रत्येक व्यवहारमें वह किसी-न-किसी रूपमें स्थित रहता है। यही शिवशंकररूप संवित् शारीरिक, शाब्दिक अथवा मानसिक व्यवहारका पूर्वरूप है। मंगलाचरणमें उसीकी स्तुति की गयी है।

वह क्या है? जिसके उन्मेष अर्थात् उन्मुखतासे विश्वका उदय होता है और परम्परा चलती रहती है। जिसके निमेषसे-विश्रामसे प्रलय हो जाता है वही है। जैसे जाग्रत् कालमें दृश्यका उदय और सुषुप्ति कालमें दृश्यका प्रलय। आत्मसंवित्के उन्मेष और निमेषसे अतिरिक्त उत्पत्ति-प्रलय नामकी कोई वस्तु नहीं है। यह आत्मरूप ईश्वरकी शक्तिका प्रसार और विराममात्र है। विमल संवित्के दोनों ही आकार हैं। 'तत्त्वविचार'में कहा गया है कि जगत्का उदय और विलय शक्तिके प्रसार और संकोचके साथ बँधे हुए हैं। जिसकी वह शक्ति है, वही शिव—आत्मा है। 'कक्ष्यास्तोत्र'में भी यही भाव है—'तुम्हारे आशयके उन्मेष-निमेष मात्रको ही सृष्टि और प्रलय कहते हैं। यह बात विचित्र निर्माणको देखकर स्वयं स्पष्ट हो जाती है। उन्मेषमें ज्ञान-क्रिया आदिसे गर्भित इच्छा-शक्तिका निवास है और वह फैलती है। इच्छासे ज्ञान प्रवृत्त होता है और

क्रिया-करणके संयोगसे पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इसका विराम ही प्रलय है। उन्मेष और निमेष शब्दोंका मूल प्रयोग मंगलार्थक है, पादपूर्णार्थक है अथवा सृष्टिके आद्य होनेके कारण है। इसमें शब्द-क्रम विवक्षित नहीं है। उन्मेषमें मुक्ति है और निमेषमें मुक्ति; क्योंकि निमेष निस्तरंग है।

आत्मसंवित् रूप शिवशङ्करको 'शक्तिचक्र-विभवप्रभव' कहा गया है। शक्तियाँ अनेक होती हैं। 'मालिनीविजय'के अनुसार जगत् स्रष्टाकी समवायिनी शक्ति इच्छा है। वही जब जगत्को प्रकट करती है तब ज्ञानशक्ति हो जाती है। कार्योन्मुखी होनेपर क्रियाशक्ति। अर्थकी उपाधिसे इसके अनेक नाम हो जाते हैं, जैसे चिन्तामणिके। जैसे माता पचास वर्णोंके पुष्पोंकी माला पहने हुए हो, वैसे ही यह अकारादि स्वरवर्णोंकी माला धारण करती है। शक्तिचक्रके चार प्रकार हैं—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी। इन्हींको परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भी कहते हैं। इन्हींमें आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया निवास करती है। ये सभी शक्तियाँ आत्मसवित्से अभिन्न ही हैं। पाञ्चभौतिक शरीरसे रहित केवल चिदात्मामें जो परमानन्दका उल्लास है; वही परा वैष्णवी शक्ति है। इन्हीं शक्तियोंसे संवित् विग्रह धारण करती है; दानवोंका नाश करती है। हितकारिणी होनेसे इन्हीं शक्तियोंको माता कहा जाता है। ये सब शक्तियाँ विज्ञानदेह ही हैं।

यहाँ शक्तियोंके रहस्य-स्वरूपके प्रकाशनका प्रसंग नहीं है। उन्हें आप किसी भी मतके अनुसार कुछ भी मान लें। भिन्न-भिन्न मतोंमें खेचरी, इच्छा, परा, अघोरा, वामा, ब्राह्मी, वैष्णवी, शैवी, सौरी, बौद्धी आदिकी प्रधानतासे इनका वर्णन है। कोई-कोई इन्हें अक्षररूप और करणरूप भी मानते हैं। कुछ भी हो, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि इन सभी शक्तियोंके मूलकारण स्पन्दरूप भगवान् ही हैं। 'मायावामनसंहिता'में सभी शक्तियोंसे परिवारित एक ही भगवान्को ध्येय एवं उपास्य कहा गया है। 'कुलयुक्ति'का कितना सुन्दर वचन है—वेदान्त, वैष्णव, शैव, सौर, बौद्ध एवं अन्यान्य मत-मतान्तरोंमें एक शुद्ध आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञेय—दोनों है। जाननेवाला ही जाना जानेवाला है। ठीक ही कहा कि जिसका उन्मेष और निमेष ही जगत्का उदय-विलय है, उसको हम नमस्कार करते हैं। सच तो यह है कि शक्ति-समूह ही अनन्तरूपमें स्फुरित हो रहा है। शक्तिमान् आत्मा महेश्वर है और शक्तियाँ जगत् हैं जैसे श्रेष्ठ सुन्दरीके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे राशि-राशि लावण्य छलकता है, वैसे ही परमात्माकी चिन्मात्रता ही जगत्के रूपमें छलक रही है। शक्तियोंके बलसे ही आत्माको 'प्रभु' संज्ञा अन्वर्थ होती है।

अब प्रश्न यह है कि संसारी अवस्थामें आत्माका यह वैभव क्यों ढक जाता है ? इसका उत्तर देते हैं मूल कारिकामें—

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥ २ ॥

जिस स्पन्द-तत्त्वमें यह सम्पूर्ण कार्यजगत् ज्ञानरूपसे शक्त्यात्मक होकर अवस्थित है, निमेष दशामें भी वह ज्ञानरूप होनेके कारण अनावृत—अनाच्छादित ही रहता है। उसका कभी, कहीं, किसीप्रकार निरोध नहीं होता। बात यह है कि बोध्यकी स्वयं सत्ता नहीं है, अवबोधस्वरूप आत्मा दोनों अवस्थाओंमें अनावृत है। प्राचीन आचार्यका वचन है—'स्वर्णके आभूषणोंमें विचित्रता स्वर्णसे पृथक् नहीं है। नित्य स्वरूपकी विश्वरूपता भी ऐसी ही है। आभूषणरूप-रहित स्वर्ण पिण्डात्मक है। वेद्यरहित आत्मा चिदात्मक है।' 'ज्ञानसम्बोध'में भी ऐसा ही है—'विश्वका आश्रय आकाश है, आकाशका आश्रय विश्व नहीं है। ज्ञान आकाशके समान अनन्त है और ज्ञेय विश्वके समान अल्प है, किञ्चित् न्यूनसत्ताक है। जैसे आकाशमें किसीके द्वारा परिच्छेद वा प्रतिबन्ध नहीं है; क्योंकि वह व्यापक है। इसीप्रकार यह ज्ञानस्वरूप भी प्रतिबन्ध-रहित है।'

अच्छा, तो भले ही सर्ववृत्त्युपसंहाररूप-निरोध उसका न हो, किन्तु जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें वह अनिरुद्ध कैसे रह सकता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्यकी यह कारिका है—

जाग्रदादि विभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति ।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ॥ ३ ॥

यह सच है कि जाग्रत् आदि अवस्थाएँ बदलती हैं परन्तु वे सब आत्म-संवित्से अभिन्न ही हैं। अवस्थाओंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी स्पन्दतत्त्व अपने निज उपलब्धिमात्र स्वभावसे च्युत नहीं होता; क्योंकि वह उपलब्धा है। उपलब्धा तीनों अवस्थाओंमें समानरूपसे रहता है। भेद अवस्थाओंमें होता है, अवस्थातामें नहीं। विष-वृक्षका अंकुर क्या छोटा, क्या बड़ा, विषमें भेद नहीं होता। जाग्रत्, स्वप्नमें संवेदन प्रसिद्ध है। सुषुप्तिके उत्तरकालमें भी सुख-निद्राका संवेदन होता है। संवेत्ता अक्षुण्ण है। जलकी लहरियोंके साथ प्रतिबिम्ब हिलता है, परन्तु, चन्द्रमाके साथ उस क्रियाका स्पर्श नहीं होता। अवस्थाएँ नाचती हैं, अपना रूप बदलती हैं, परन्तु परमात्मासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे अंगकी कोई चेष्टा अंगसे अभिन्न ही है, वैसे ही कोई भी भेद परमात्माकी अंग-चेष्टा ही है। द्रष्टा इन्द्रियोंसे अर्थ ग्रहण करता है तो जाग्रत्, उनके बिना

केवल मनसे अर्थग्रहण करता है तो स्वप्न और जहाँ न अर्थ है, न स्मरण वह सुषुप्ति। परन्तु आत्मा शुद्ध बोधैकस्वरूप है, ज्यों-का-त्यों। यही उसकी तुरीयता है।

किसी-किसीका कहना है कि अवस्थाएँ तो विश्वके अन्तर्गत हैं परन्तु अवस्थाता नहीं। प्रत्यभिज्ञा आदि युक्तिसे उसका खण्डन करनेके लिए अगली कारिका है।

अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादिसंविदः।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम् ॥ ४ ॥

मैं सुखी-दुःखी, रागी आदि हूँ—यह सब संवेदन अर्थात् अवस्थाएँ हैं। वे भिन्न-भिन्न संवेदनोंसे अलग संवेत्ता-अवस्थाता अर्थात् सुखादिके उपलब्धामें उपरागरूपसे (ग्रहणकी कालिमाके समान) स्पष्ट रहती हैं। संवेत्ताके विना भिन्न-भिन्न संवेदनोंकी भी सिद्धि नहीं होती। क्षणिक ज्ञानवादियोंके मतमें अनेक नदियाँ समुद्रमें मिलकर तादात्म्यके कारण एक जान पड़ती हैं परन्तु यह संवेत्ता केवल अवस्थाओंका तादात्म्य नहीं हैं। कार्य-कारण भाव अथवा बाध्य-बाधक भाव तबतक सिद्ध ही नहीं हो सकता, जबतक पूर्वदशा और उत्तरदशाका एक ही प्रमाता न हो। जब प्रत्येक क्षण विलक्षण होंगे, प्रत्येक संविद् पृथक्-पृथक् होगी तो पूर्ववर्ती प्रमाणसे उत्तरवर्ती प्रमेयको बोध कैसे होगा? सम्बन्धका ग्रहण हुए विना प्रमाणकी क्या गति होगी? संवेत्ताके बिना मिथ्या ज्ञानका मिथ्यात्व कैसे सिद्ध होगा? एक क्षणके अनन्तर शुक्तिका रजत हो जाय तो उसको कौन रोक सकेगा? वस्तुतः संवेत्ताके एक हुए विना प्रमाण-अप्रमाणका भेद ही नहीं रहेगा। घटकी सिद्धि होगी और अनुभव पटका होगा। 'यह वही है' यह प्रत्यय भी क्षणिक विज्ञानवादियोंके मतमें नहीं हो सकता। अतः पूर्व-विज्ञानकी स्मृति जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं—सर्वथा प्रामाणिक है। इसलिए नित्यस्वभाव आत्मा ही संवेत्ता है। सच्ची बात तो यह है कि एक प्रमाता आत्माकी सिद्धिके बिना प्रमाण भी अप्रमाण हो जायगा; क्योंकि सबकुछ क्षणिक और अनिश्चित होगा। क्षणिक ज्ञानमें कार्य-कारणकी सिद्धि कैसे होगी? स्मृति-बीज कैसे होगा? कारणका नाश कैसे हो गया! यदि नाश नहीं हुआ तो विनाशी कार्यका कारण कैसे हुआ? अभावसे भाव-परम्परा कैसे चल सकती है? यदि कार्यका नाश नहीं होता है तो वह क्षणिक कैसे हुआ? जो दूसरे क्षण रह सकता है, वह सौ क्षण तक भी रह सकता है। अभिप्राय यह है कि भाव सब स्थिर हैं। स्वरूपतः भावका अभाव नहीं होता।

आत्मज्ञानमें कुछ भी क्षणिक नहीं है। निश्चयके बिना बाध्य-बाधक भाव भी सिद्ध नहीं होता। स्थिरताके बिना शुक्तिमें रजत-भ्रान्ति मिटानेका क्या अर्थ होगा ? अतः ज्ञान एक है, नित्य है। वह क्षणिक और अनेक नहीं होगा।

'सत्कार्य-सिद्धि'में कहा गया है कि 'यदि प्रत्येक विज्ञान स्वतन्त्र हो तो एक दूसरेका संवेदन नहीं हो सकता, इसलिए पूर्वावस्था और उत्तरावस्था—दोनोंका ज्ञाता एक प्रमाता होता है और वह विचित्र वृत्तियोंके द्वारा व्यवहारका आश्रय बनता है। अनेक वृत्ति-ज्ञानोंका अनुसन्धान एक अजन्मा ज्ञानको होता है। गीताका यह वचन सर्वथा सत्य है कि एक ही चेतन स्मृति-ज्ञान और अपोहनका हेतु है।' विरोधियोंके कुतर्क-पाषाणोंको चबानेमें कोई लाभ नहीं है।

संवेत्ताका स्वरूप क्या है ? सुख-दुःख, राग-वैराग्य, मोह-प्रबोध आदि जितनी अवस्थाएँ होती है, उनमें वह मणियोंमें सूतकी तरह अनुस्यूत रहता है। 'मैं' पहले सुखी था, आज दुःखी हूँ, सुख-दुःखमें भेद है, मैं-में भेद नहीं। इस स्मृति और प्रत्यभिज्ञाका अनुसन्धान उसीको होता है। इन अवस्थाओंमें भी वह सावरण नहीं है; क्योंकि ये अवस्थाएँ विकल्पमात्र हैं और अनित्य हैं : संवेत्ता इनसे अतिरिक्त है। अविद्यावरण तो केवल उपरागमात्र है; जैसे चन्द्रमा या सूर्य पर ग्रहण। अन्धकारसे आच्छन्न होनेपर रस्सी साँप नहीं बन जाती और न तो नष्ट होती है। इसी प्रकार अविद्या आत्माका कुछ बिगाड़ नहीं सकती—यह भर्तृहरिका वचन है।

'संवित्प्रकाश'का कहना है—'स्फटिकका स्वभाव अत्यन्त निर्मल है परन्तु जपाकुसुम आदिका उपराग होनेपर स्फटिक लाल दीखता है। भगवान् संवेत्ताका अत्यन्त निर्मल शरीर भाव-समासक्त होकर विविध प्रकारका उपलब्ध होता है। जैसे स्फटिक रंगीन नहीं हो जाता, वैसे भावयुक्त होनेपर संवित् वैसी नहीं हो जाती। यह आत्म-संवित् उपरक्त होनेपर भी अपने निजरूपका परित्याग नहीं करती। रूपान्तरित न होनेपर भी यह रूपान्तरित दीखती है। बात यह है कि जो कुछ दीखता है—सब कुछ उसीका तो विलास है। शुद्ध अनुभवविवि आकारोंसे अपने आकारका परित्याग नहीं करता, निर्मल ही रहता है। श्वेत वस्त्रपर कोई रंग चढ़ा, उतर गया; दूसरा चढ़ा, उतर गया। श्वेत वस्त्र ज्यों-का-त्यों है। इसी प्रकार शुद्ध चेतन तत्तत् आकारके रागसे तत्तदाकार भासता है परन्तु रहता है शुद्ध। क्या ही सुन्दर वचन है—नील, पीत, सुख-दुःख—सबमें चित् स्वरूप अखण्डित ही रहता है। चित्र-विचित्र उपाधि-सम्पदासे विकल्प उसको विशिष्ट-विशिष्ट दिखा देता है।'

विकल्पोंसे विलक्षणका स्वरूप बतलाते हैं—

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥ ५ ॥

वह स्पन्दतत्त्व परमार्थतः है; क्योंकि वह नित्य है। उसमें न आध्यात्मिक दुःखादि हैं और न वैषयिक सुख। घटपटादि ग्राह्य भी नहीं हैं। मैं इन्हें ग्रहण करनेवाला सविकल्प ग्राहकरूप प्राकृत अहंकार हूँ—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि अहंकार तो अविद्याके विना होता ही नहीं है। इससे अधिष्ठातारूप ग्राहक अहंकारका अभाव बताना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि उसको तो जानना ही है। 'तत्त्वगर्भ' में कहा गया है कि परमार्थमें ग्राह्य और ग्राहक कुछ नहीं। परमार्थके ज्ञानके बिना अपनी छाया ही आभासके समान जान पड़ती है। तव वह स्पन्दतत्त्व क्या पाषाणके समान मूढ़ या शून्य है? नहीं-नहीं, वह जड़ नहीं है, स्वप्रकाश सर्वावभासक है। जैसे शीतकाल और उष्णकालके मध्य न शीत है, न उष्ण है, वैसेहो सुख-दुःखके मध्यमें न सुख है, न दुःख है परन्तु वह दोनोंमें है।' 'तत्त्वस्तुति' में ऐसा वचन है—'जैसे आकाशमें बिना अन्यभावके, सम्बन्धके सूर्यका उदय होता है, इसीप्रकार वेद्यके विना ही अपनी स्वताका प्रकाश होता है। विशेषके विना सामान्य अथवा व्यक्तिके विना जातिका पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता, परन्तु यह तो नहीं कहा जा सकता कि सामान्य = जाति है ही नहीं। स्वसंवेदन—संवेद्य, सविन्मयी स्थिति नित्य शुद्ध निजस्वरूप है। उसमें सुख-दुःखकी कोई विशेषता नहीं है।' और तो और, नागार्जुनने भी कहा है—'सब आलम्बन, धर्म, सब तत्त्व और सब क्लेशाशयसे सम्पूर्णतः शून्य है वह तत्त्व, परन्तु परमार्थतः शून्य नहीं है।' आलोकमाला' और विलक्षण ढंगसे तत्त्वको प्रकाशित करती है। उसका कहना है—'वह तमोवृत्तिके विरुद्ध है, इसलिए तमोवृत्तिको कभी अवकाश नहीं देती। वह सचमुच साधारण जनोंके लिए कोई अविज्ञेय अवस्था है, उसे हम शून्यता कहते हैं। लोक-रूढ़िमें जो नास्तिकताका बोधक शून्यता शब्द है, वह हमारे 'शून्य'का अर्थ नहीं है।

यह जड़ नहीं है और निश्चित रूपसे है, इसका उपपादन करते हैं—

यतः करणवर्गोऽयं विमूढो मूढवत्स्वयम्।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्ति-स्थिति-संहृतीः ॥ ६ ॥
लभते तत् प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात्।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥ ७ ॥

इसी स्पन्दतत्त्वसे यह बाह्य करणवर्ग अर्थात् ज्ञान-कर्मेन्द्रिय अन्त:करण-चक्रके साथ मूढ़ चेतन होनेपर भी विचेतनके समान स्वयं प्रवृत्ति, स्थिति और संहारकी अवस्थाओंको प्राप्त करता है। आप देखते ही हैं कि चुम्बकके सन्निध्यसे लौह क्रियाशील हो जाता है। वायु और अग्निके सम्पर्कसे लौह-पिण्ड अग्निवत् दाह-पाक-प्रकाशमें समर्थ हो जाता है। भला, यह तो सोचिए कि जो दूसरोंको चैतन्य बनानेमें समर्थ है, वह स्वयं नि:स्वभाव कैसे हो सकता है? इसका अभिप्राय यह है कि सभी चेष्टाएँ ज्ञानपूर्वक हैं। ज्ञानहीन शरीर मिट्टीका डला हो जाता है। निश्चय ही जड़वर्गका अधिष्ठाता और धारक है, अन्यथा आकाशमें पत्थरका टुकड़ा क्यों न टिक जाता? अतः उद्योग और श्रद्धा—दोनोंके द्वारा इस तत्त्वका परीक्षण एवं समीक्षण करना आवश्यक है। इस सिद्धपुरुषकी वाणी पर विचार कीजिये—'ब्रह्म नेत्रके समान ही अदृश्य है और नेत्रके समान द्रष्टा है। अपने आपमें ही इसकी उपलब्धि है, घटादिके समान दृश्य नहीं है।' इसकी स्थिति अकृत्रिम और स्वतन्त्र है। जैसे यह देहस्थ करणवर्गको चैतन्य बनानेमें स्वतन्त्र है, वैसे ही सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर और और दृश्यवर्गको भी।

स्वातन्त्र्य हां उसकी इच्छाका सामर्थ्य है। देखिए, उसके विवेककी युक्ति—

नहीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥ ८ ॥

यह जीवात्मा पुरुष केवल इच्छा-प्रेषण या करण-समूहकी प्रेरणाका स्वतन्त्र कर्ता ही नहीं है, प्रत्युत अपने निरावरण चिद्रूप ज्ञत्व, कर्तृत्व आदिरूप बलके स्पर्शसे वही हो जाता है अर्थात् यह स्वयं ही सर्वज्ञ, सर्वकर्ता है।

अबतक आत्माके पूर्ण स्वातन्त्र्यका निरूपण किया गया। यदि इसके अभिमानात्मक क्षोभका क्षय हो जाय तो कहना ही क्या! अगली कारिका है—

निजाशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥ ९ ॥

अनादि अशुद्धि अविवेकमूला अविद्या भोगाभिलाषा-मलसे आत्माकी शक्तिको संकुचित, सामर्थ्यहीन कर देती है। फिर उसको अपनी भोगभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिए अनेक कर्तव्य करनेकी इच्छा होने लगती है। यही अज्ञान है। श्री सात्वतने कहा है कि अज्ञान, परिच्छिन्नता, सुखीपना, दु:खीपना—ये सब सर्वज्ञ आत्मतत्त्वमें इसलिए आ जाते हैं कि वह कर्मचक्रका आलम्बन ले लेता है। इसीको दूसरे शास्त्रोंमें गमनागमन, प्रकृति, अशुद्धि, कर्मवासना, माया, अविद्या, भ्रम, मोह, अज्ञान एवं मल आदि नामोंसे कहा

जाता है। प्रकृति और पुरुषकी अनादिता समान होनेपर भी मायारूप प्रकृतिका लय हो जाता है और आत्मसंवित् ज्योंकी त्यों रहती है। 'संवित्प्रकाश'में कहा गया है—'मायाका मायापन यही है कि तत्त्वसाक्षात्कार होते ही मिट जाती है। रज्जुका, ज्ञान होनेपर सर्प, माला आदि माननेका प्रश्न ही कहाँ ?'[1] और भी कहा है कि 'तुम्हारे अतिरिक्त जो कोई दूसरी वस्तु है, इस प्रकार मालूम पड़ती है, वह विचार करनेपर गन्धर्वनगरके समान विलीन हो जाती है। केवल तुम्हीं शेष रहते हो। इसलिए तुम्हारा नाम शेष है।'[2] विद्याधिपतिका कहना है : 'समाधिका स्वभाव है—विषयका भक्षण। जब युक्तिपूर्वक समाधि लगानेसे वह विषयप्रकाशको खा जाती है तब आपकी पदवी हो जाती है 'सर्वभोक्ता' और केवल आप ही अभक्षित रह जाते हैं। वह जादूगरके जादूके समान या ऐन्द्रजालिककी मायाके समान अपने बाधकमें ही रहती है; अर्थात् माया मायावीकी बुद्धिमें कोई भ्रम उत्पन्न नहीं करती—अपने आश्रयको दुःख नहीं देती। जैसे आगसे धुआँ, जैसे दर्पणपर मल, जैसे पानीमें बुलबुले, ऐसा ही उसका स्वरूप है—फिर निर्विकार ही निर्विकार है'।[3]

यह क्षोभ क्या है ? अशुद्धिजनित विकार। उसका केवल एक ही रूप है—देहमें अहंभाव। विवेकसे आत्मबलका स्पर्श होनेपर वह नष्ट हो जाता है तब परम पदकी प्राप्ति अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। 'षड्धातु-समीक्षा' का कथन है कि 'मोहमूलक कर्म संसारके कारण होते हैं। मोहका मिट जाना और कर्मका मिट जाना एक ही बात है। वही सच्ची शान्ति और स्वस्थता है।' 'नारद-संग्रह' का वचन देखिये—'जैसे भुना बीज़ अंकुरित नहीं होता, वैसे ही विकल्परहित चित्त पुनर्जन्मसे मुक्त हो जाता है। यह क्षोभक्षय अभ्याससे धीरे-धीरे होता है।' 'स्वात्म-संबोध' का कहना है कि 'जैसे किसी पात्रसे आग हटा दी जाय तो भी वह धीरे-धीरे ठण्डा होता है, वैसे ही अज्ञान-कीचड़के धो

१. मायात्वमेतदेव स्यान्नाशस्तत्त्वप्रदर्शनात्।
नहि विज्ञातरज्ज्वात्मा सर्पादीन्मन्यते पुनः॥

२. त्वत्तो द्वितीयमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित् तत्तद्विचारपदवीमवतारितं चेत्।
गन्धर्वपत्तनमिवोपलयं प्रयाति त्वं शिष्यसे ध्रुवमतस्तव शेषसंज्ञा॥

३. भक्षणप्रकृतिना समाधिना युक्तितो विषयधाम्नि भक्षिते।
सर्वभक्षपदवीमुपेयुषः शिष्यते परमभक्षितो भवान्॥
सा चेन्द्रजालिनो मायेवाऽऽस्थिता बाधकात्मनि।
यथाऽग्नेर्धूमलेखेव मलवद् दर्पणस्य वा।
बुद्बुदाः सलिलस्येव तच्छान्तौ निर्विकारिता॥

फेंकनेपर भी शनैः-शनैः कैवल्यका अनुभव होता है।' 'षाड्गुण्य-विवेक' में आत्मा और परमात्माका केवल इतना ही भेद बतलाया गया है कि अविद्याके कारण अहंभावका संकोच होनेसे यह आत्मसंवित् परमात्मासे अभिन्न होनेपर भी भिन्न भासती है। जैसे स्वप्नावस्थामें कोई डर जाय। वस्तुतः स्वप्नद्रष्टा निर्भय है, पर वह डरके मारे घबरा जाता है। क्या स्वप्नद्रष्टा और स्वप्न-दृश्यमें कोई पारमार्थिक भेद है? जब किसी वस्तुको 'मेरी' मान लिया जाता है तब मिथ्या भयका उदय होता है। 'यह पदार्थ स्वप्नवत् है' यह समझते ही भय भाग जाता है। इसी प्रकार 'मैं परमात्मरूप ही हूँ' इस भावनासे जिसकी अहंकार-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, वह अपनेको परमात्मस्वरूप ही देखता है।' 'संवित्प्रकाश' में कैसी सयुक्तिक उक्ति है—'ये सारे कर्म तुम्हीं करते हो और तुम्हीं हो। अहंकार नहीं है तो केवल तुम्हीं शेष हो। अहभाव ही आत्माका परमात्मासे भेद है। वह भावनाभ्याससे नष्ट हो गया तो एकता-ही-एकता है।

स्वरूपस्थ, स्वस्थ पुरुषके गुणोका निरूपण करते हैं—

तदाऽस्याऽकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्व-कर्तृत्वलक्षणः।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च॥ १०॥

जब क्षोभका प्रलय हो जाता है तब आत्मा स्वरूपस्थ हो जाती है और उसका सहज स्वभाव प्रकट हो जाता है। सहज स्वभाव क्या है? सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता। वह जो जानना चाहे, जान सकता है; जो करना चाहे, कर सकता है—अपने लिए भी, औरोंके लिए भी। 'पंचरात्र'में यह सहज धर्म 'विवेकज ज्ञान' के नामसे कहा गया है। जब उसका प्रादुर्भाव होता है, तब क्या होता है? यह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर एवं सर्वशक्ति हो जाता है। यह बिना इन्द्रियोंके भी होता है। जैसे अग्नि दाह्य क्या है, इसका विचार नहीं करती, वैसे ही आत्मा 'ज्ञेय क्या है' इसका विचार नहीं करता; क्योंकि वह स्वयं बोधस्वरूप है। 'षाड्गुण्य-विवेक'का कथन है कि 'बोध विचित्र पदार्थोंके निर्माणके लिए किसी दूसरे सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वयं संकल्पसे ही सहस्रों रूपोंकी सृष्टि कर लेता है।

किसी-किसीका ऐसा कहना है कि आत्मामें ज्ञातृत्व और कर्तृत्व आदि किसी दूसरे परतत्त्वसे आते हैं, वे वस्तुतः आत्माको अनीश्वर ही मानते हैं। 'आगम-रहस्य'का वचन है कि 'जो ईश्वरकी क्रियाको किसी सहकारी कारणसे की हुई मानते हैं, उन्होंने ईश्वरताको ही तिलाञ्जलि दे दी। वे तो ऐसा कहते हैं, मानो परस्त्रीके अधीन पुरुषका नाम कामीश्वर रख दिया गया हो।'

इस सहज धर्मकी स्थिरताके लिए उपायका निर्देश करते हैं—

तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन्।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः ॥ ११ ॥

जो शुद्ध आत्मस्वभावको अर्थात् अधिष्ठातृभावसे अपनेको स्वयंप्रकाश चिद्रूपसे सर्वव्यापक रूपमें देखता है वह मुसकराता हुआ, विस्मयाविष्ट-सा, खिलते हुए फूल-सा रहता है। अविद्याका विलय हो जानेके कारण उसके लिए यह क्षुब्ध संसार कहाँ है? यह योगकी एक ऊँची भूमिका है। इसकी दृष्टि द्रष्टारूपसे सबका अनुभव है। 'इष्टोपदेश' में कहा गया है: 'बेटा! तुम्हारी दृष्टिसे यह जो कुछ दीख रहा है, उसका आग्रह छोड़ दो। जिससे देखते हो, उसको देखो। उसको देख लेनेपर सब कुछ देख लोगे।'[1] ऐसी स्थितिमें विकल्पकी कारीगरीके अधीन होकर कुमार्गमें चलना नहीं होता, सदा अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। वही सत्यसंकल्प ईश्वर है। अभ्यास और भावनासे सारे दुःख मिट जाते हैं। रसायन आस्वादनके बिना केवल ज्ञानमात्रसे भी सिद्धि देता है। "वैसे तो प्रभो! आपको चरवाहे, बच्चे और स्त्रियाँ भी जानती हैं, परन्तु साधन या युक्तिके न होनेसे आप उन्हें मुक्त नहीं करते। गायमें स्थित दूध भूख-प्यास नहीं मिटाता। पान करनेपर ही वह दूध भूख-प्यास मिटाता है।"

जो लोग अभाव-चिन्तनका उपदेश करते हैं शून्यवादी, उनका खण्डन करनेके लिए आगेकी दो कारिकाएँ हैं—

नाऽभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढता।
यतोऽभियोगसंस्पर्शात् तदासीदिति निश्चयः ॥ १२ ॥
अतस्तत्कृत्रिमं ज्ञेयं सौषुप्तपदवत् सदा।
न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥

अभाव शशशृंगके समान होता है। अतः अवस्तु होनेके कारण वह कभी अनुभवका विषय नहीं हो सकता। अभाव एक मूढावस्था है, चेतन नहीं। अभियोग अर्थात् अभिलाषके संस्पर्शसे उसके अभावकी भावना हुई। वह बीत गयी। वह मेरी शून्यावस्था थी—ऐसा स्मरण होता है। कहा भी है: 'जिस भावके द्वारा अभाव बाधित होता है, वह 'है' या 'नहीं'। उसके अभावके बाधक भावका सद्भाव कौन काट सकता है? अतः वह है और चिन्मय है। उसीसे

---

१. यदिदं दृश्यते दृष्ट्या ग्रहं पुत्राऽत्र सन्त्यज।
येन पश्यसि तं पश्य यं दृष्ट्वा पश्यसेऽखिलम् ॥

सबका अनुभव होता है, अभावका भी।"[1] यही कारण है कि अभावकी भावना कृत्रिम और अनित्य ही होती है। वह सुषुप्तावस्थाके समान है। यदि ऐसा न होता तो बादमें मूढावस्थाके समान उसका स्मरण न होता। उस अवस्थाके कारण ही सदा प्रकाशमान आत्मा स्मृतिका विषय बन जाती है। आत्मा देखकर ही तो स्मरण करती है। अतः वह चिद्रूप एवं नित्योदित है। यही कारण है— कि गुरुसे उपदेश प्राप्त करके आदरपूर्वक उसका विचार करना चाहिए।

अभीतक ऐसा लगता है, मानो, दो अवस्थाएँ हों : एक, स्मर्ता और दूसरी, स्मर्तव्य। इनमें कौन नित्य है और कौन अनित्य ? इसका विचार अगली कारिकामें करते हैं—

अवस्थायुगलं चाऽत्र कार्य-कर्तृत्वशब्दितम्।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥ १४ ॥

इस स्पन्दतत्त्वमें जो दो अवस्थाएँ हैं—कार्य-कर्ता, भोग्य-भोक्ता या दृश्य-द्रष्टा। इन्हें वेद्य और वेदक भी कह सकते हैं। इनके अध्याससे जो कार्यता है वह क्षयिष्णु और उत्पत्ति-विनाशयुक्त है तथा जो शुद्ध कर्ता, भोक्ता द्रष्टा अर्थात् आवेदक है वह अक्षय है। वह निर्बाध, निरवधि चित्स्वरूप है।

अतएव—

कार्योन्मुखः प्रयत्नोऽयः केवलं सोऽत्र लुप्यते।
तस्मिल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

यह बाह्यार्थ कार्यवर्ग जब क्षीण होने लगता है, तब कार्य—सम्पादनानुकूल बाह्येन्द्रियोंका व्यापाररूप प्रयत्न लुप्त हो जाता है। वह सिकुड़कर आत्मामें लीन हो जाता है, अतः नहीं दीखता। इन्द्रियाँ स्थगित हो गयीं तो प्रयत्नका सामर्थ्य कहाँ रहा ? लुप्त होता है, प्रयत्न पर अज्ञानी मान बैठता है कि मैं ही नष्ट हो गया। वस्तुतः चिद्रूपका विनाश नहीं है। कहा भी है—'शरीरका विनाश हो जानेपर भी विज्ञप्तिका विनाश नहीं होता। सूर्यकान्तमणिका अभाव हो जानेपर भी सूर्यकी कोई हानि नहीं होती।

ऐसा क्यों ?

न तु योऽन्तर्मुखो भावः सार्वज्ञादिगुणास्पदम्।
तस्य लोपः कदाचित् स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ॥ १६ ॥

---

१. अभावो येन भावेन बाध्यतेऽस्ति न नास्ति सः।
तस्य भावस्य सद्भावो वद केन निवार्यते।
सोऽस्त्यतश्चिन्मयो भावो येन सर्वं विभाव्यते ॥

देश-कालादिसे परिच्छिन्न कार्यकी ही निवृत्ति होती है। अन्तर्मुख भाव जो बाहर नहीं फैलता है, स्वस्वरूपस्थ-स्वस्वभाव सर्वज्ञता आदि गुणोंका आश्रय हैं, उस भावकी निवृत्ति कभी नहीं होती। क्यों नहीं होती? इसलिए कि चिद्रूपके अतिरिक्त द्वितीयकी उपलब्धि नहीं होती। उसीकी सर्वत्र, सर्वदा उपलब्धि होती है। जैसा कि कहा है—'देश-काल-क्रिया एवं आकारोंसे परिच्छिन्न वस्तुओंमें आप ही अनवच्छिन्न रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं; क्योंकि आप उनसे बाहर हैं।' यहाँ भी है कि सर्वज्ञता, ज्ञान आदिमें भेद नहीं है; क्योंकि चिद्रूप ज्ञानकी ही सब स्थितियाँ हैं। 'षाड्गुण्य-विवेक' में कहा गया है—'सभी गुणोंके आदि-अन्तमें ज्ञान ही होता है। केवल इसीसे तत्त्वका निश्चय हो जाता है। बल, वीर्य, ओज आदिकी शक्तियाँ धर्मरूपसे स्वीकार हैं।' 'कक्ष्यास्तोत्र' में बाह्यविमर्शसे शक्तिको अविद्या और ज्ञानको सर्वज्ञता कहा गया है। बल तृप्ति-मूलक है और अनादि बोध तेज है, इसलिए बलका मूल बोध है। तेज प्रभाव है जो दूसरोंको झुका देता है। वह वेद्य होनेसे बोधका ही विलास है और वही जगत्को झुकाता है। यही ईश्वर है और इसकी स्वतन्त्रता ही ऐश्वर्य है। यह संविदात्मा सब कृत्योंमें स्वतन्त्र है। न किसीका नियोज्य है और न विघ्नवान्। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों दशामें यह ईश्वर ही है। यह अलुप्त शक्ति और अविनाशी है। इसका वीर्य यह है कि इसको आत्मसत्ता कभी परिभ्रष्ट नहीं होती। यह कार्यमें अन्वित नहीं होता, स्वयं होता है। आभूषणमें स्वर्णकी अनुगति नहीं है, वह स्वर्ण ही है। स्वर्णका कण-कण स्वर्ण है।

उसकी उपलब्धि किसे होती है?

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी।
नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्ते परस्य तु॥ १७॥

योगीको चिद्रूप आत्माकी निरन्तर उपलब्धि, अनुभूति होती है। योगी कैसा? जो सदा सावधान—जागता रहे। उपलब्धि कैसी? जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंमें बनी रहे, निवृत्त न हो। वह कार्यदशामें भी निर्भ्रान्त है। कहा भी है—'ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें संवित् नहीं रहती। अतएव योगिगण चिद्घनस्वरूपकी ही उपासना करते हैं। यदि योगी पूर्ण प्रबुद्ध न हो तो भी कार्यके आदि-अन्तमें संवित्का अनुभव होता है। कार्यकी पहली अवस्था और अन्तिम अवस्था चिन्मय ही होती है। बीचमें कार्य संविद्रूप होनेपर भी अन्य रूपसे भासता है। इसका यह अभिप्राय भी हो सकता है कि आदि, अन्त, मध्य, जाग्रत्, स्वप्न सर्वत्र प्रबुद्ध योगीको संवित्का ही स्पष्ट उपलब्धि होती है।

वह परमात्मा योगीके लिए कहाँ और कैसे है ? देखिए—

ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः ।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः ॥ १८ ॥

चिद्रूप परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है और अत्यन्त उत्कृष्ट सामर्थ्यसे युक्त है। वह जाग्रत् और स्वप्नमें देदीप्यमान रहता है । उसकी शक्ति ही ज्ञान और ज्ञेय—दोनों है । इसीसे दोनों अवस्थाओंमें दो प्रकारका कार्य करती हैं । दो तरहकी उपलब्ध होती है । इन दोनों अवस्थाओंसे अन्यत्र सुषुप्ति और तुरीय—दोनों अवस्थाओंमें वह चिन्मात्र ही रहता है; क्योंकि वहाँ ज्ञेय नहीं होता, ज्ञानस्वरूप ही रहता है ।

प्रश्न यह है कि जब गुणस्पन्दादि अनेक पदार्थ स्थित हैं तब उसकी उपलब्धि कहां ? इस शंका-कलंक-पंकका परिमार्जन किया जाता है—

गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥ १९ ॥

सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण और महान्, अहंकार आदिके जो स्पन्द हैं उन्हींके निष्यन्द अर्थात् प्रवाह हैं—सुख, दुःख, मोह आदिकी तरंगें । वे सामान्य स्पन्दके अन्तर-लीन अनन्त विशेषोंका आलम्बन प्राप्त करके ही सत्तावान् होते हैं। अतएव तत्त्वज्ञ योगीके स्वरूपमें उनसे कोई व्यवधान नहीं पड़ता । वे योगीके विरोधी नहीं, स्वरूपके विलास हैं । जैसे पुष्पका रस उसके स्वभावका आच्छादक नहीं है, वैसे स्पन्दके निःष्यन्द अरविन्दके मकरन्दके समान ही है । एक सिद्धका वचन है—'प्रकाशके महलमें प्रकाश्य वस्तु नहीं दीखती । अनन्त संविद्में संवेद्य भी संविद्रूप है ।' 'मतंग-पारमेश्वर' में भी यही है—'शिवसे लेकर पृथिवीपर्यन्त यह जो विस्तीर्ण मार्ग है, वह चिद्वस्तुसे सिद्ध होता है और उसीसे जाना जाता है । गीतामें मायाको 'दैवी' कहनेका यही अभिप्राय है ।'

अज्ञके लिए तो—

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥ २० ॥

मूढ़ पुरुषके लिए ये ही स्पन्द-निःष्यन्द चित्स्वरूपके आच्छादक बन जाते हैं, क्योंकि वह मूढ़ बुद्धि पुरुष अपनेको गुणात्मक ही देखता है, शुद्ध-बुद्ध नहीं । कहा भी है—'जैसे बालक स्वच्छ शीशेको अपने ही श्वासोंसे मलिन कर देता है, वैसे ही अज्ञानी अपने विकल्पोंसे विज्ञानको मलिन कर देता है । इसका फल यह होता है कि वे जन्ममरणके संसारप्रवाहमें भेज देते हैं । उस प्रवाहमें अत्यन्त

क्लेश है और उससे पार पाना कठिन है।' 'ज्ञानसम्बोध' में कहा गया है— 'यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही आत्मशक्तिसे संचालित होते हैं, तथापि एक स्वतन्त्र है और दूसरा परतन्त्र। शुद्धबोध पुरुष विषमस्थलमें भी साक्षिवत् स्वतन्त्र रहता है। मन्दबोध पुरुष अन्धेके समान समस्थलमें भी परतन्त्र होता है।'

अब अज्ञानीके संसारसे पार जानेका उपाय बताते हैं—

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति॥ २१॥

स्पन्दके निःष्यन्द अज्ञानीको सर्वदा पतित बनानेके लिए उद्यत रहते हैं। अतः अपने विकस्वर स्वभावसे स्पन्दतत्त्वका विवेक करनेके लिए सर्वदा उद्योग करते रहना चाहिए। इसीसे स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है। सचमुच अपना स्वरूप उद्योक्ता है, विकस्वर है, शिव है। शिवसूत्रोंमें उद्योगको ही 'शिव' कहा है। इसलिए जाग्रत्-अवस्था अर्थात् व्युत्थान-दशामें शीघ्रसे शीघ्र उसे अपने स्वरूपका अधिगम हो जाता है। जो लगा रहता है, वह जागता रहता है। इसका विवेचन यों हैं—मैं हूँ शुद्धबोधैकस्वरूप। यह जगत् मेरा विस्तार है, विलास है, जृम्भा है, मुसकान है। क्या सुन्दर कहा है—'यह सब मेरा वैभव है। ऐसा ज्ञान हो जानेपर वह विश्वात्मा हो जाता है और विकल्पोंके विस्तारमें भी वह महेश्वर ही रहता है।' पञ्चरात्रमें कहा गया है—'जब आत्मामें सर्वभूतोंको देखता है और अपनेको उनमें देखता है तथा उनसे अपनेको पृथक् देखता है, तब जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है।' दूसरे स्थानपर भी ऐसा ही कहा है—'अजी! तुम निर्मल, अनन्त, एकमात्र बोधस्वरूप हो। भव्यबुद्धि सावधान पुरुष तुम्हें ज्ञाता और ज्ञेय—दोनोंमें ही देख लेता है।' 'तत्त्वार्थ-चिन्तामणि' में यह वचन है—'विवेकके द्वारा विशाल मोहान्धकारका विदलन हो जानेपर योगीके स्वरूपका उदय हो जाता है। अनात्मभावका तिरस्कार हो जानेके कारण वह प्रत्येक दशामें अपने परमानन्दस्वरूपमें मग्न रहता है। वह द्रष्टा-दृश्यके विवेकका रहस्य समझ गया। संसारका ऐसा कोई क्षण-कण और कोण नहीं है, जहाँ वह नहीं है। भवरोग मिट गया। उसके व्युत्थानमें भी समाधि है। सच्ची मोक्ष-लक्ष्मी तो उसकी पुत्री है।[1]

---

1. इत्थं तत्तदनल्प - मोहदलन - प्राप्तस्वरूपोदयो
योगी नित्यमनात्मभावविरहात् स्वात्मस्थितौ निर्वृतः।
दृश्य-द्रष्टृविवेकविज्ञवपदव्यापी विमुक्तामयो
व्युत्थानेऽपि समाधिभाग् भवति सन्मोक्षश्रियः कारणम्॥

जाग्रत्-दशामें ही स्वभावका स्फुरण हो जाता है—यह बात अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आती। इसलिए अब उन अवस्थाओंका वर्णन करते हैं जिनमें स्पन्द स्पष्ट परिलक्षित होता है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किंकरोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत् पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ २२ ॥

द्वेषसे अमर्श उद्दीप्त होनेपर अत्यन्त क्रुद्ध मनुष्य पहले जिस अवस्थापर पहुँचता है, उसकी चित्तवृत्ति जिस स्फार या उन्मुखताका स्पर्श करने लगती है; शुचिरागत प्रियव्यक्तिके दर्शन आदिसे हर्ष प्राप्त करके जिस परमानन्दको ग्रहण करता है; अनेक कर्तव्योंके कल्लोलमें फँसकर, 'यह करूँ अथवा वह करूँ' इस प्रकार परामर्श करके जब निश्चयकारिणी दशामें आता है; अपनी प्रेयसीके बुलानेपर अथवा संभ्रमवश दौड़कर जिस अवस्थापर आरूढ़ होता है; उसमें आत्मस्वभाव स्पन्द स्पष्ट उपलब्ध होता है। जब, जहाँ, जिस अवस्थामें सब शक्तियोंका लय हो जाता है, वहाँ स्पन्दतत्त्वका स्पष्ट उदय देखनेमें आता है। इसका कारण यह है कि क्रोधसे सारी दुःखभूमियाँ प्रकट हो जाती है और हर्षसे सारी सुख-भूमियाँ। 'क्या करूँ ?' 'क्या न करूँ' इससे मोहजन्य सारी इन्द्रियवृत्तियाँ दौड़ने लगती हैं। इसीसे 'विज्ञान-भैरव' में कहा गया है—'क्रोधादिके अन्तमें, भयमें, शोकमें, शून्य अरण्यमें, किसी कामकी प्रवृत्तिको एकाएक रोक देनेपर, घनघोर संग्राममें, कुतूहलमें, क्षुधा-पिपासाका अन्त होनेपर ब्रह्मसत्ता सर्वथा निकट रहती है, पहचानी नहीं जाती।' 'रहस्य-स्तोत्र' में कहा गया है कि 'क्रोध एवं हर्षकी विवशताकी पराकाष्ठामें, कर्तव्याकर्तव्यके विमर्शमें, एक भावका स्पर्श होनेसे पूर्व जो दशा रहती है, वहाँ स्पन्द अपने अन्दर बलका संचार करता रहता है। इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्रुटिमात्र कालमें सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताका स्पर्श होने लगता है (सुईसे कमलको एक पंखुड़ी छेदनेमें जितना समय लगता है, उसको त्रुटि कहते हैं) एक त्रुटिके लिए मनुष्यमें सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता, सर्वेश्वरका उदय हो जाता है। गुरुके उपदेशसे आदरपूर्वक इन सिद्धान्तोंकी आप परीक्षा कर सकते हैं।

अब इसी स्पन्दतत्त्वके जीवनमें उदय होनेके लिए उपायका निर्देश करते हैं—

यामवस्थां समालम्ब्य यदाऽयं मम वक्ष्यति।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति सङ्कल्प्य तिष्ठति ॥ २३ ॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोम-सूर्यावुभावपि।
सौषुम्णेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम् ॥ २४ ॥

तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशि-भास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥ २५॥

'ये हैं हमारे गुरुदेव ! ज्ञानियोंके शिरोमणि ! ये अनिर्वचनीय सद्वस्तुका भी निर्वचन कर सकते हैं। इनकी आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। ये जो कुछ मुझसे कहेंगे, मैं अवश्य वहा करूँगा'—यह दृढ़संकल्प धारण करके साधक जब उन्मुखतारूप वृत्तिका आलम्बन लेकर स्थिर हो जाता है, तब उसकी उस अवस्थामें ऊर्ध्वमार्गसे विषुवत्-प्रवाहके द्वारा सोम, सूर्य, अपान, प्राण, मन-प्राण, सुषुम्नाके मार्गमें, जो कि पर शक्तिका मार्ग मध्यम नाड़ी है, विलीन हो जाते हैं। पता नहीं, गुरुदेव क्या आज्ञा देंगे ? यह कुतूहल वासनाओंको पीस डालता है। उस समय साधक ब्रह्माण्डस्थित शरीर-विषयका परित्याग करके 'देहाहंभाव' से मुक्त हो जाता है। कहा भी है—'देहमें अहंप्रत्ययका द्वीप भग्न हो गया। अनंत संवित्रूप निर्मल समुद्रसे एकता हो गयी। इन्द्रिय-समूह अन्तर्मुख हो गया। बस, तुम एक अद्वितीय विश्वात्मा हो।' ऐसी अवस्थामें महाव्योम अर्थात् परचिदाकाशमें सूर्य और चन्द्रमा, ज्ञान और क्रिया—दोनों शान्त हो जाते हैं। स्वभावमें अभिव्यक्ति नहीं होती। स्वप्न, जाग्रत् आदिके दृश्योंसे मोह नहीं होता। वह प्रबुद्ध और अनिरुद्ध हो जाता है, मानो सुषुप्ति हो। किन्तु उस समय वह प्रबुद्ध आर आवरणरहित ही होता है।

'रहस्य-स्तोत्र' में कहा है—'बड़े-बड़े आकाशगामी सिद्धपुरुष भी, जिन्होंने अपनी आत्मसंवित्में सूर्य-सोम अर्थात् ज्ञान-क्रियाको लीन कर लिया है, व्योम-मार्गका उल्लंघन कर चुके हैं और अपनी दृष्टिमें भावनाका अंजन लगाये हुए हैं, उनमें भो किसी-किसीको तुम्हारे स्वरूपका दर्शन होता है।' 'निरंजन-तत्त्वोदय' में प्राणापानकी प्रशान्तिको ही आत्मदर्शनकी युक्ति बतलाया गया है। 'भोग-मोक्ष-प्रदीपिका' में भी कहा है—'हृदयमें सोम-सूर्यके संचारसे कामसिद्धि होती है और उनकी शान्तिसे निरंजन-तत्त्व की। यही शास्त्रका सर्वस्व है। इसी अवस्थामें सहज मन्त्रका उदय होता है।' 'बौद्धायन-संहिता' का वचन है—'चन्द्रमा शान्त हो जाय और सूर्यका उदय न हो, उस समय सब देवताओं (इन्द्रियों) का विलय और सब मन्त्रोंका उदय होता है।' 'मालिनी-विजय' का भी यही मत है—'जिस अवस्थामें जीव अन्याधार विनिर्मुक्त होकर स्वरूपमें लीन होता है, वही सम्पूर्ण मन्त्रोंकी उत्पत्तिका क्षेत्र (स्थान) है।' और भी—'जब पुरुषका चित्त धर्माधर्मके सन्धिस्थलमें निरुद्ध हो जाता है तब वह जो बोलता है वही मन्त्र हो जाता है। स्वरवर्ण-मातृकासे बनाये मन्त्र ही मन्त्र नहीं होते।'

अतएव—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥ २६ ॥

मन्त्रमें चार बातें मुख्य होती हैं—बीज, पिण्ड, पद और नाम। उनका धर्म है—मनन और त्राण। उनका बल है—निरावरण चित्का उल्लास अर्थात् पराशक्ति। उसी शक्तिको लेकर मन्त्र सहज नादशक्तिसे उद्बोधित होकर प्रदीप्त होते हैं। उनमें सर्वज्ञता आदिका बल आ जाता है। जब सिद्धमन्त्री उनका प्रयोग करता है, तब वे अनुग्रह और निग्रह करनेमें समर्थ होते हैं। जैसे एक शरीरधारी अपने कर-चरणोंका प्रयोग करता है, ठीक वैसे ही। आत्माके परत्वका अवबोध होनेके कारण मन्त्रज्ञ इच्छामात्रसे मन्त्रोंका यथेष्ट प्रयोग कर सकता है। 'त्रिकसार' में कहा है—'वर्णातीत निराकार परम तत्त्वका बोध हो जानेपर मन्त्र मन्त्राधिपोंके साथ किंकर हो जाते हैं, अर्थात् वशीभूत हो जाते हैं।' यदि ऐसा नहीं है तो बड़े प्रयत्नसे प्रयोग करने पर भी वे कठपुतलीके समान निष्फल-चेष्ट ही रहते हैं; क्योंकि सत्यसंकल्प चिच्छक्तिके बलका स्पर्श न होनेके कारण वे केवल वर्ण-मात्रा अर्थात् जड़ अक्षर हो रहते हैं।

'हंस-पारमेश्वर' में कहा है—'केवल वर्णरूप मन्त्र पशुभावमें स्थित हैं। सुषुम्नामार्गसे उच्चारण करनेपर वे पशुपति हो जाते हैं।' वस्तुतः शाक्त-मार्गमें ही मन्त्रोंकी सफलता है। 'तत्त्वरक्षा-विधान' में कहा गया है—'आत्मसंवित् अथवा परमपदमें मन्त्रका प्रयोग नहीं करना चाहिए; क्योंकि वह शक्ति और क्रियासे रहित है। शक्तिके विषयमें ही मन्त्रका प्रयोग करना चाहिए। वहीं जप सफल होता है।' 'श्रीवैहायसो' में कहा है—'सन्धिस्थलमें नादोर्ध्वध्वनिसे बोधित जप करना चाहिए जैसे, सूत्रमें मणि गुथे हुए होते हैं, वैसे ही शक्तिके ताने-बानेसे बने हुए मन्त्राक्षरोंका ध्यान करना चाहिए। वह शक्ति परम व्योममें रहती है और परमामृतसे समृद्ध है। उक्त रीतिसे जप करनेपर मन्त्र अपने स्वरूपको प्रकट कर देता है, अपनेको आवृत नहीं रखता।' 'श्रीकालपरा' में वचन है—'शब्द नादात्मक हैं, अतः उसके साथ प्रत्यय, संवित् संलग्न रहकर बढ़ाती रहती है। मन्त्रबोधके स्वरूपमें स्थित संवित् अभिन्न है अतः वह आत्मबोध भी करा देती है।' 'संकर्षण-सूत्र' में वचन है कि 'चिद्रूपता स्वात्मैक-निष्ठ है। भाव एवं अभाव उसकी दशाएँ हैं, परिष्कार हैं। वह स्वसंवेदन संवेद्य है। प्रकृतिसे अतीत भी वही, प्रकृतिका विषय भी वही। यहीं मन्त्रोंका प्रत्यया-त्मक कारण है। मन्त्र बाहर और भीतर वर्णरूपसे प्रकट होते हैं। वे शाश्वत

पदरूप होते हैं। वे मनुष्यके कर-चरणादिके समान हैं। वीर्यका योग होनेपर किसी भी कालमें प्रयोग करनेपर वे सिद्ध होते हैं।' जब शुद्ध बोधात्मक रूपसे अन्तर्वाह्य दोनोंमें उदित मन्त्रका एकवार भी जप किया जाता हैं, वह लक्ष वार किये हुए जपके समान है। 'जयसंहिता' में कहा हैं—'एक ही मन्त्रनाथ अन्तर और बाह्य—दोनोंमें उदित होकर एक हो जाता है तब उस जपको लक्षसंख्यासे भी अधिक समझना चाहिए।

इस प्रसंगमें युक्तिसे मन्त्रशक्तिका निरूपण किया गया और उसका प्रथम उदय भी बतलाया गया। अब उसका विलय बताते हैं—

तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
सह साधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः॥ २७॥

ये मन्त्र साधकचित्तको प्रवृत्ति-निवृत्तिके निमित्तसे अर्थात् उसकी आधारभूत इच्छासे फिर लीन हो जाते हैं—उसी शक्तिमान् स्वस्वभावमें। क्योंकि ये स्वस्वभावके अनुगामी और शक्तिरूप हैं। यही बात 'कालपरा'में कही गयी है। पर अक्षररूप वृक्षमें अनेक शक्तियाँ हैं। उनके विवर्त शक्तिके रूपमें वर्णोंमे प्रकट होते हैं। मुखके सम्बन्धसे उन्हें वरण करते हैं। वे शक्तियाँ कृतकृत्य होनेके कारण स्वयं शान्त हैं और निरञ्जन अर्थात् कालुष्यरहित हैं। अथवा निरञ्जन-तत्त्वसे अनुप्राणित हैं। यही कारण है जो शिवशंकरमें धर्म हैं वे ही मन्त्रमें भी, अर्थात् मन्त्र भी सर्वज्ञ और सर्वकर्ता हैं।

साधक-चित्तमें मन्त्र लीन हो जाते हैं, यह कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मा ही शिव है। अब इसको सयुक्तिक सुनिये—

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः॥ २८॥
तेन शब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥ २९॥

यह जीव-आत्मा ही सर्वमय, सर्वात्मक विश्वरूप है; क्योंकि यह बोद्धा है। कहा भी है—'तत्त्वज्ञान होते ही सब चिन्मय हो जाता है। वेद्यका ऐसा कोई भाग नहीं है जो वेदकसे बाहर हो। वेद्य वेदक है। वेदक संवित् है। संवित् आत्मा है।' तब तो सबसे बड़ा यथार्थ यही है कि आत्मा ही जगत् है। छान्दोग्य-श्रुतिमें स्पष्ट कहा है—'इदम्‌के रूपमें प्रतीयमान यह सब जगत् आत्मा ही है। आत्मामें नानात्व किञ्चित् भी नहीं है।'

एक और बातपर भी विचार कीजिये। सर्वभावोंका समुद्भव आत्मासे ही होता है। संविद्के आरोहणसे ही परा, पश्यन्ती आदि वाणियोंका उदय होता है और सत्ता सिद्ध होती है। प्राचीन आचार्योंका वचन है—'जान लिया, सबके कारण तुम्हीं हो; क्योंकि घटमें मृत्तिकाके समान सबमें तुम्हारा अन्वय है। जब संवित्के बिना विश्वकी सिद्धि ही नहीं होती, सम्पूर्ण विश्व संविद्-समन्वित ही है, तो असंवित् कारण कैसे हो सकती है ? संवित् ही सत् है, सत् ही संवित् है। संवित्की उपासना किये बिना वही सर्व-सत् हैं—यह अनुभव नहीं हो सकता।' और भी—'सभी भाव तुम्हारे ही स्वरूप है, इसमें किसीका विवाद नहीं है; क्योंकि सब प्रकाशित होते हैं। क्या कहीं अप्रकाश भी प्रकाशित होता है ?' और भी—'तुम प्रकाशक एक हो। सर्जन, भाषण और बोधन—ये तीनों तुम्हारे प्रकाश हैं। तुम अन्य प्रकाशोंसे व्यतिरिक्त हो, जैसे दूसरे प्रकाशक सूर्यादि। परन्तु तुम्हारे प्रकाशके उदयके बिना कोई दूसरा प्रकाश प्रकाशित नहीं हो सकता। श्रुति, पञ्चरात्र भी तो यही कहते हैं कि वहाँ सूर्य-चन्द्रादिका प्रकाश नहीं है। उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित हो रहा है।

संवित् सर्वमय है—इसका एक दूसरा कारण बताते हैं। जितने संवेद्य हैं, वे संवेदनरूप अनुभवके द्वारा ही संविदित होते हैं। उनसे तादात्म्य होता है, तद्भावरूपता होती है और अभेदका संवेदन होता है। 'स्वात्म-सप्तति'में कहा गया है—सभी वस्तुएँ ज्ञानस्वभावका ही विषय होती हैं और उसके साथ तादात्म्यको प्राप्त हो जाती हैं। जीव ज्ञानस्वरूप है, अतः वह सर्वमय है।' 'संविद्-प्रकरण'में कहा गया है—'अग्निसे समाविष्ट सब अग्निरूप ही दीखता है, वैसे ही ज्ञानसे समाविष्ट सब ज्ञानरूप ही देखिए। 'आगम-रहस्य'का वचन है—ज्ञानसे आकारवर्ग भासता है, इसलिए यह विश्वमयी विभूति ज्ञान ही है। तुम्हीं विश्वात्मक हो, यह केवल शास्त्रसिद्ध ही नहीं है, आत्मसंवित्से संविदित होनेके कारण अनुभवसिद्ध भी है।'

संविद् ही प्राणद्वारा वाग्रूप धारण करती है। वही वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परारूप है। इन चारों वाणियोंका वक्ता निर्विशेष परमस्थायी और नित्योदित निजाकृति है। सूर्यके समान तेजका विस्तार करता हुआ वह हृदयमें प्रकाशित होता है और चिदिच्छा-शक्तिसे संबुद्ध है और आत्मबल ही उसका बल है। 'प्रत्यभिज्ञा'का वचन है—'प्रत्यवमर्शात्मा चिति ही सरस परावाक् है। परमात्माका यह स्वातन्त्र्य ही मुख्य ऐश्वर्य है। वह सर्वदेश-कालमें स्फुरती हुई महासत्ता सबका आधार है और परमेश्वरका हृदय है।'

उसका रूप है—अन्तःसंकल्प। उसमें शब्द और अर्थ—दोनों एक साथ स्फुरित होते हैं। इसलिए दोनोंका अभेद ही प्रसिद्ध है। ग्रन्थकारने ही कहा है—'शब्दानुवेधके विना प्रत्ययका उदय नहीं होता।' यह पहले ही कह चुके हैं कि वाक्‌का मूल संवित् है। और भी—'जैसे निजात्मा संवित्से सम्पूर्ण जगत् अनुविद्ध है, वैसे ही संवित्से सम्पूर्ण वाणी अनुविद्ध है।'

योगिनाथने भी कहा है—'परतत्त्वमें किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिए वाणीको स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि रूपके अनुसन्धानसे वस्तुका निश्चय होता है। उसकी उन्मुख वृत्तिसे ही वस्तुके सद्भावकी कल्पना होती है। उसके विना किसीको आत्मलाभ नहीं हो सकता; क्योंकि उस अवस्थामें केवल स्वरूप-ज्योति रहती है। वहाँ विभाग और क्रमकी अपेक्षा नहीं होती। उसका रूप योगिगम्य होता है। उसी उन्मुखतासे चिन्तनमयी वाग्धारा बनती है। तदनन्तर विशिष्ट शब्दके विषयकी स्फुरणात्मिका विवक्षा होती है। इसके वाद वह शब्दका रूप धारण करके अर्थको प्रकट करती है। इसलिए संवित्प्रसूत वाणीके बिना किसी अर्थका अवधारण नहीं हो सकता।' इस प्रकार सर्वप्रकाशक संवित्स्वरूपकी प्रभाके समान प्रकाशनशक्ति अन्तस्संकल्परूपा वाणी बनकर फिर वर्ण, पद, वाक्यको जीवन-दान करती है और पदार्थके रूपमें वाहर दीखती है। यह प्रवुद्धोंके लिए स्वानुभवसिद्ध है। कहा भी है—'चिदात्मा देव अपने अन्तःस्थित अर्थको स्वेच्छासे वाहर प्रकाशित करता है ठीक वैसे ही, जैसे योगी बिना उपादानके ही वस्तुको प्रकट करता है। अन्तस्थ भावोंका जो स्वामी है, वही उन्हें प्रकाशित करता है; बिना उसकी इच्छा, अमर्श कुछ भी प्रवृत्त नहीं हो सकते।' और भी—'जो कुछ वाहर दीख रहा है वह सव तुम्हारे ही अन्दर है। आँख बन्द करके जैसे सव कुछ भीतर देखा जा सकता है, वैसे ही यह सारा प्रपंच है।'

इस प्रकार स्वभाव ही सर्वरूपमें स्थित है। इस सर्वात्मक स्वभावके कारण शब्द और अर्थकी चिन्ता करनेपर ऐसी कोई अवस्था नहीं मिलती जो शिव-स्वभावको प्रकट न करती हो, अर्थात् चित्स्वरूप न हो। संविद्‌में सब एक है, उसीमें सबका अस्तित्व है। कहा भी है—'जिन-जिन कारणोंसे भाव-नदियाँ अलग-अलग बहती हैं, उन्हीं-उन्हीं कारणोंसे बोध-समुद्रमें एक हो जाती हैं।' ग्रन्थकारने पहले ही कह दिया है कि शारीरिक, शाब्दिक या मानसिक ऐसा कोई व्यवहार नहीं है, जिसके प्रारम्भमें आप विराजमान न हों। अतः ठीक ही कहा गया है कि संविदात्मा भोक्ता अर्थात् अनुभवित्ता ही भोग्य-भावसे अनुभाव्यके रूपमें सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं। उससे अलग भोग्य-नामका कोई पदार्थ नहीं है। आइये, श्रुतिका गान करें—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः ।

अन्न भी मैं, उसका भोक्ता भी मैं । 'तत्त्वविचार'में देखिए—'स्वभावस्थित भाव ही परस्पर भोक्ता और भोग्यके रूपमें सम्बद्ध होते हैं । उनको कोई पृथक् सत्ता नहीं है । ज्ञानके ही ये नाम हैं—द्रष्टा, अनुभविता, स्मर्ता, ग्राहक, भोक्ता, वेदक, कर्ता, उपलब्धा, संवेत्ता और ज्ञाता ।' इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान ही ज्ञेयके रूपमें चमकता है, फैलता है । कहा भी है—'आपसे भिन्न जो भाव दिखायी पड़ते हैं, वे हैं तो अपने आत्मा ही, परन्तु मुग्धतावश अन्य भोग्यके रूपमें मालूम पड़ते हैं । मूर्खजन पशुके समान उसके भोगके लिए संसारमें भटकते हैं । जो इन दृश्य भावोंको आपके वैभवके रूपमें देखते हैं, वे आपके समान ही प्रभु हो जाते हैं और विश्वको अपने वशमें कर सकते हैं ।' 'ज्ञानसम्बोध' में वचन है—'ज्ञान ही तीन रूपोंमें स्थित है—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान । **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः** गीताका यह वचन सर्वथा यथार्थ है ।' उत्पलाचार्य कहते हैं—'द्रष्टा ही है । अज्ञानिजन इस दृश्यको अध्यात्मरूपसे नहीं देखते । शीशेमें प्रतिविम्बके समान यह जगत् द्रष्टा और दृश्यके रूपमें दो प्रकारसे भास रहा है । बोधानुवेधसे ही घट-पटादि बाह्य सद्भाव प्राप्त करते हैं, अतः ज्ञानाद्वैत ही सत्य है । कहीं भी ज्ञेयकी सत्ता नहीं है ।'[1]

'आत्म-सप्तति'में कहा गया है कि 'यह जो कुछ दीख रहा है, वह दर्शनसे भिन्न नहीं है । दर्शन द्रष्टासे भिन्न नहीं है, अतः द्रष्टा ही जगत् है ।' 'संकर्षण-सूत्र'में भी—'जिससे यह विश्व दीखता है, जो सारे विश्वका द्रष्टा और जो चराचर रूपमें दृश्य हो रहा है, उसीका नाम विष्णु है ।' 'जाबालिसूत्र'में भी—'द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, जिसके चैतन्यस्वभावका कभी लोप नहीं होता, वही जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयका एकमात्र कारण है—भगवान् वासुदेव अर्थात् आत्मा ।' 'पंचरात्र-उपनिषद्'में देखिए—'ज्ञाता-ज्ञेय, वक्ता-वाच्य, भोक्ता-भोग्य सब वही है ।' इसी ग्रन्थमें कहा है—सर्वान्तर, सर्वबाह्य, स्वयंज्योति, स्वसंवेद्य और स्वयंभू वही है ।' श्रुति भी कहती है—'वही ज्ञाता, वही ज्ञान ।' वही मन्त्रात्मा है, अतः मन्त्र भी शिवरूप ही हैं ।

प्रशंसा करके इसकी स्वीकृतिका उपाय बतलाते हैं—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ ३० ॥

१. द्रष्टैवास्ति न दृश्यमेतदबुधैरध्यात्मना ज्ञायते
आदर्शप्रतिबिम्बवज्जगदिदं भिन्नं द्विधा भाति यत् ।
सत्तां यान्ति घटादयो बहिरमी बोधानुवेधात् सदा
ज्ञानाद्वैतमतः स्वतोऽस्ति न पुनर्ज्ञेयस्य सत्ता क्वचित् ॥

इस श्लोकमें 'वा' शब्दका प्रयोग स्वार्थमें ही है। अभिप्राय यह कि बहुत कहाँतक कहें—ऐसा ज्ञान जिसको हो गया है वह पुरुष अर्थात् जिसको सब अपना स्वरूप ही अनुभव होता है—मन्मय ही दीखता है; वह समग्र जगत्‌को अपना क्रीडाराम, खेलनेका बगीचा देखता है; क्योंकि वह नित्ययुक्त, नित्यमुक्त है। बन्धकारण अज्ञान मिट गया और प्रबोधकी प्राप्तिसे वह जीवित ही ईश्वरवत् मुक्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उपपत्ति और उपलब्धिके द्वारा यह सिद्ध है, अतः इसमें भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए। कहा भी है—आत्मबोध सम्यक् विश्रान्ति हो जानेपर जो अलुप्तानुभव स्थित है वह तत्त्ववित् पुरुष विषयभोग करता हुआ भी जीवन्मुक्त है।

जिन लोगोंका ऐसा कहना है कि उत्क्रान्तिके बिना मोक्ष नहीं होता, उनका पक्ष ठीक नहीं है। इसके लिए कहते हैं—यदि स्वभावका अनुभव हुए बिना ही केवल उत्क्रान्तिके बलसे पुरुषको कैवल्यकी प्राप्ति हो जाय तो जो मूर्ख फाँसीपर टँग कर मरता है, उसको भी मोक्ष प्राप्त हो जाय। कहा भी है—'गुणवासनावासित पुरुष भी प्रलयकालमें विदेह होनेपर भी बद्ध ही रहते हैं। विशुद्ध ज्ञानके आश्रयसे शरीरधारी भी मुक्त हो जाते हैं।' 'ज्ञानगर्भ'में कहा है—हे 'त्रिलोकीनाथ! जो मनुष्य आपकी उपासना करके किल्विषरूप उपद्रवोंका नाश कर चुके हैं, उन्हें बहुत शीघ्र ही अद्वैतभावनाके आवेशसे यह अनुभव प्राप्त हो जाता है कि 'मुझमें ही यह सकल जगत्-स्थित है। मैं ही सब हूँ और मैं ही सर्वत्र हूँ।'[1] गीतामें—'सबमें मैं और मुझमें सब' यह प्रसिद्ध ही है। 'पञ्चरात्र'में भी उल्लेख है—'प्रज्ञाके महलपर चढ़कर पुरुष अशोच्य हो जाता है। वह प्रज्ञावान् पुरुष शोकग्रस्त लोगोंको ऐसे देखता है, मानो पहाड़के ऊँचे शिखरपर स्थित पुरुष नीचेकी वस्तुको देख रहे हों।' वस्तुतः देखा जाय तो यहाँ नित्य उद्युक्तता—उन्मुक्तताको ही उपाय सूचित किया गया है। यह बात पहले कही भी जा चुकी है।

मन्त्रात्मा शिवभावका उदय दूसरी युक्तिके द्वारा भी समझाते हैं—

अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि।
तदात्मतासमापत्तिमिच्छतः साधकस्य वा॥ ३१॥

---

१. मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव सर्वत्र वा
स्थितोऽहमिति-धारणाद्वितयभावनावेशतः।
जगत्त्रितयनाथ तामतिचिरेण सम्प्राप्यते
नृभिस्तव सपर्यया दलितकिल्बिषोपप्लवैः॥

पूर्वोक्त मन्त्रात्मा ध्येयका यही ध्याताके चित्तमें उदय है। जो साधक या ध्याता मन्त्रात्मासे एकत्व चाहता है, उसकी यही तदात्मता अथवा ध्येयस्वरूपापत्ति है। 'विश्व-संहिता' में कहा गया है—'जब चित्त ध्येयमें लीन हो जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। इसमें ध्येय प्रत्यक्ष हो जाता है और ध्याता तन्मय हो जाता है।' मूल श्लोकमें 'इच्छतः' के स्थानपर 'ऋच्छतः' पाठ भी माना जाता है। उसका अभिप्राय यह है कि ध्येयका चिन्तन करते-करते जो उसके साथ तदात्मतापत्ति है अर्थात् एकता है, वही उसका उदय है। ग्रन्थकर्ता 'इच्छतः' और 'ऋच्छतः' दोनोंका आशय ठीक मानते हैं; क्योंकि मन्त्रोच्चारणकी इच्छासे मन्त्रदेवताके साथ जो तादात्म्य है, वह वस्तुतः संवेदन द्वारा उससे एकता ही है। मन्त्रन्यास द्वारा जीवनमें देवताका आविर्भाव ही होता है।

अब इस व्याप्तिका फल बताते हैं—

इयमेवाऽमृतप्राप्तिरयमेवाऽऽत्मनो ग्रहः।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ॥ ३२ ॥

यह जो स्वरूप-संवेदन है, यही आत्माकी अमृतत्व-प्राप्ति है। जरा-मरणकी परम्पराका विच्छेद होनेसे जो अपुनर्भवता है, उसे हम मुक्ति नहीं कहते। दुग्ध-समुद्रसे स्वतः उद्‌भूत यही आत्माका अनुग्रह है। यही निर्वाण-दीक्षा है और यही परमात्मासे मिलन है। 'मोक्षधर्म' में कहा है—'सब संकल्पोंको छोड़कर सत्त्वमें चित्तको निविष्ट कर देना चाहिए। जब चित्त सत्त्वमें विलीन हो जाता है, तब कालपर विजय प्राप्त हो जाती है।' 'आत्मसंबोध' में भी कहा है—'स्वभाव-संवित्का ज्ञान ही मनुष्यके लिए भवसे मुक्तिका हेतु होता है। एकबारका अमृतपान मृत्युग्रस्तको अमर बना देता है।' 'दीक्षा' पदका अर्थ यह है—ज्ञानसद्‌भावका दान और अखिल मलका क्षपण। यह होता है, बोधानुवेधसे। दीक्षामें द से दान और क्ष से क्षपण अर्थ बोधित होता है।

इस प्रकार अकृत्रिम स्पन्दतत्त्वका उदय वर्णन करके अब उसीसे मन्त्रोदय, उसका प्रभाव और उसकी विभूतियोंका वर्णन करते हैं। स्पन्दतत्त्वका उदय होनेपर जाग्रत्-अवस्थामें ही निजभावकी प्राप्ति होनेपर स्वातन्त्र्य हो जाता है। वैसा ही स्वप्नमें भी होता है, यह बतलाते हैं—

यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रत्यर्थान् हृदि स्थितान्।
सोम-सूर्योदयं कृत्वा सम्पादयति देहिनः ॥ ३३ ॥
तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान् प्रणयस्यानतिक्रमात्।
नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितवद् यं प्रकाशयेत् ॥ ३४ ॥

जैसे आत्मस्वभावरूप स्रष्टा जाग्रत्-अवस्थामें अपनी इच्छासे ही प्रेरित होकर हृद्देशस्थ अभिमत अर्थका सम्पादन करता है स्वबलके आश्रयसे। भला, यह कैसे ? सोम-सूर्य, अपानप्राण और नेत्रोंको उदित करके अवधानपूर्वक इच्छित पदार्थको ही देखता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यके सामने असंख्य वस्तुएँ रहती हैं—गणिका, नट, मल्ल, दर्शक आदि। उनमेंसे वह जिस वस्तुको देखना चाहता है उसीको देखता है, क्योंकि उसीमें स्वरूपका अनुप्रवेश होता हैं। ठीक इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी अपने स्वभावमें स्थित रहकर हृदयमें अभीष्ट पदार्थोंको ही स्पष्ट करके देखता है; क्योंकि आत्मसंवित् इच्छाका अतिक्रमण नहीं करती। प्राचीन वचन है—'दृढ़ अभीष्ट-विषयक इच्छाको छोड़कर दूसरी वृत्ति नहीं होती।' यह कहना चाहते हैं कि इच्छानुगामी ही पदार्थ सृष्टिमें होता है, स्वतन्त्रतया किसी पदार्थका उदय नहीं होता। पदार्थ इच्छाका अतिक्रमण नहीं कर सकता। 'रहस्य-स्तोत्र' में कहा है—'बुद्धि विस्मृत पदार्थका स्मरण करके अशेषवित् आत्माके सम्मुख रख देती है। बुद्धि जो-जो रसपूर्वक अभ्यर्थना करती है, आत्मसंवित् स्वप्नमें भी उसका उल्लंघन नहीं करती।' सिद्धकी वाणी है—'चिदाकाशमें स्थित होकर जो अनुसन्धान करता है वह अखण्डित ही देखता है।' 'ज्योतिःशास्त्र'में भी कहा गया है—'मनुष्य जिस-जिस इन्द्रियार्थसे अनुविद्ध होकर शयन करता है, स्वप्नावस्थामें उन्हीं-उन्हीं पदार्थोंके कर्म देखता है।'

अब तक स्वप्न-स्वातन्त्र्यके वर्णनके द्वारा युक्तिसे सुषुप्तिकालीन आवरण-तमकी कल्पनाका निषेध किया। अब यह कह रहे हैं कि स्वस्थ स्वरूपस्थ पुरुष ही जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाओंमें स्वातन्त्र्य-लाभ करता है। स्वरूपस्थित हुए बिना स्वातन्त्र्य-लाभ नहीं होता—

अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः।
सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ॥ ३५ ॥

स्वरूपस्थिति न होनेपर चित्तकी चंचलताके कारण इच्छारूप स्वप्नादि सृष्टि स्वतन्त्र हो जायगी। स्वतन्त्र होनेका अर्थ है कि असमंजस-असंगत हो दिखायी पड़ेगी; क्योंकि सृष्टिका स्वभाव ही ऐसा है। तत्त्वका स्वभाव ही है—इच्छाओंको फैलाना। जैसे अज्ञानी पुरुषकी इच्छाएँ जाग्रत् एवं स्वप्न-दोनोंमें 'ही स्वतन्त्र चलती रहती हैं, वे अज्ञानजन्य नहीं है, संविद्का स्वभाव ही है और वे सहस्रों होती हैं। उनका स्वरूप है—सम्बद्ध एवं असम्बद्ध विकल्प। परन्तु ज्ञानीकी स्वाधीन होती हैं और अज्ञानीकी उच्छृङ्खल।

आत्माकी विभूतियोंमें स्वातन्त्र्यकी युक्तिका निरूपण करके अब ज्ञातृत्व और कर्तृत्वके सामर्थ्यकी युक्ति बतलाते हैं। उनमेंसे सूक्ष्म और व्यवहित आदिमें ज्ञातृत्वकी युक्ति सूचित करते हैं—

यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः ॥ ३६ ॥
तथा यत् परमार्थेन येन यत्र यदा स्थितम्।
तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात् सम्प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

जैसे दूरस्थित घट-पटादि कोई पदार्थ अस्पष्ट-संदिग्ध दिखायी पड़ता है, परन्तु चित्तको सावधान करके दूसरी ओरसे हटाकर अपने प्रयत्न-विशेषसे विचार करनेपर स्पष्ट एवं असंदिग्ध भासने लगता है, वैसे ही जो वस्तु जिस रूपसे, जिस स्थानमें, जिस समय दिखायी पड़ती है प्रयत्न-विशेषसे, विकसित संवित्से देखनेपर वही भलीभाँति स्पष्ट, असंदिग्ध और अपने निश्चित रूपमें दीखने लगती है; क्योंकि स्वरूपमें कोई आवरण नहीं रहता। पहले ही कहा जा चुका है कि आत्मबलके स्पर्शसे पुरुष सामनेवाले पदार्थके समान ही हो जाता है, इसलिए यथार्थ ज्ञान होता है, (इसीसे मिलता-जुलता अद्वैत वेदान्तियोंका अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाताका विषयावच्छिन्न चैतन्यसे एक होनेपर यथार्थ ज्ञान होना है, उसमें बलका स्पर्श नहीं है।)

'तत्त्वयुक्ति'में कहा गया है कि 'जो विषयाधिपति है, वह जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, उसको तत्त्वतः अर्थात् आत्मसंवित्के रूपमें जान लेनेपर चराचरका ज्ञान हो जाता है।' यही कारण है कि छोटे-छोटे विषयोंका भूतकालिक या भविष्यकालिक ज्ञान प्राप्त कर लेना कोई आश्चर्य नहीं है।

इस प्रकार ज्ञानशक्तिका निरूपण करके अब कार्यकर्तृत्वके सामर्थ्यका वर्णन करते हैं—

दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते।
आच्छादयेद् बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः ॥ ३८ ॥

जो पुरुष क्षीणधातु, अशक्त, कृश एवं दुर्बल भी हो गया है वह भी अपने उत्साहात्मक बल, उद्योगको स्वीकार करके अपने कार्यमें प्रवृत्त होता है और उसे सम्पन्न करता है। निर्बल व्यक्ति भी उद्योग-बलका आलम्बन लेकर युद्धभूमिमें अपने अपूर्व शौर्यका परिचय देता है। असमर्थ भी व्यायामाभ्याससे महती शक्ति प्राप्त कर लेता है। यह उद्योग-बल आत्मसंवित्का ही बल है। भूखा मनुष्य अपने स्वभावका अनुशीलन करके बुभुक्षाको शान्त कर देता है। पतञ्जलिने

योगदर्शनमें कण्ठकूपमें संयमको भूख-प्यास मिटानेका उपाय वतलाया है। संयमके वलपर मनुष्य हाथी-सरीखा बल प्राप्त कर सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मबलकी अभिव्यक्ति होनेपर शोक, मोह, जरा, मृत्यु आदि षड्ूर्मियोंका नाश हो जाता है।

इस प्रकार न केवल इस शरीरके सम्बन्धमें वह सर्वज्ञ हो जाता है, वल्कि सर्वत्र उसे सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है—

अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात् सर्वत्रैवं भविष्यति॥ ३९॥

स्व-स्वभावके द्वारा अपने इस शरीरपर अधिकार कर लेनेसे इसके विषयमें जैसे सर्वज्ञता आदि गुणोंकी प्राप्ति हो जाती है, कोई नन्हा-सा कीड़ा छू जाय तो पता चल जाता है; वैसे ही अपने स्वरूप, स्वभावपर अधिकार कर लेनेपर सर्वत्र सव कुछ का ज्ञान होना शक्य है। 'ज्ञान-सम्बोध' में कहा गया है—'सव कुछ वही है; क्योंकि व्यापक है। वह स्वभावसे ही सर्वज्ञ है। 'यह पुरुष सर्वज्ञ है' इसीसे सर्वज्ञता प्रस्फुरित होती है।' और भी—'यदि सवके हृदयमें विद्यमान तुम सर्वदा सर्वज्ञ न होते तो भला, नष्टपदार्थविषयक स्मृति किसीको कैसे होती? जन्म लेते ही वालक स्तनपानकी शिक्षा किससे प्राप्त करता है? छोटे-छोटे जन्तुओंको जलमें तैरना कौन सिखाता है? यह सब तुम्हारी सर्वज्ञताका ही उल्लास है।' और भी—'मधुमक्खी जव मधुसंचय करने लगती है तव उसको यह संवित् कैसे होती है कि मुझे किसका रस लेना चाहिए? किसका नहीं? और कौन स्वादु, कौन अस्वादु होगा? यह आपका ही विलास नहीं तो और क्या है? नन्हें-नन्हें कीड़े भी अपने भरण-पोषणकी आश्चर्यजनक व्यवस्था कर लेते हैं। अज्ञानी पशु हाथी अपने ऊपर जल फेंककर स्नान करता है, वह किसके ज्ञानका फल है? भोले हिरनको संगीतकी पहचान कैसे होती है, जिससे वह अपना खाना-पीना भी भूल जाता है? इस अनन्त संवित्का विलास हुए विना चूहा विलमें रहते हुए भी बिल्लीसे क्यों डरता है? विवेकरहित कछुआ पानीके भीतर छिप जाता है और अपने सारे अङ्गोंको समेट लेता है—यह बुद्धि उसे कहाँसे प्राप्त होती है? आत्मसंवित् ही तो मोरमें वैठकर नाच रही है। पक्षी अगाध जलमें कूदकर मछली पकड़नेका कौशल किससे सीखता है? हंस नीरसे क्षीरको विवेक करनेकी संवित् किससे प्राप्त करता है? छोटे-से-छोटा प्राणी बोलकर अपनी भावना कैसे प्रकट करता है? प्रातःकाल 'आज यह-यह काम करना है' ऐसा संकल्प कहाँसे उदय होता है? मूर्ख पशुओंको अपने सींग,

दाँत और पंजेसे दूसरोंपर प्रहार करनेकी विद्या किसने सिखायी है ? यदि भीतर अखण्ड संवित् स्पन्दित न होती तो हाथीको अपने बल और सिंहको अपने तेजका पता कैसे चलता ? पशु-पक्षियोंको भी अतिवृष्टि और अनावृष्टि, भूकम्प आदिकी पूर्वसूचना कहाँसे मिल जाती है ? यमराजके समान भयंकर सिंह आदि प्राणियोंसे भी मनुष्यका प्रेम हो जाता है। बिना सबके हृदयमें एक संविद्की स्थिति हुए ऐसी मैत्री, मिलनसारी कहाँसे आती है ?'

युक्तियोंका निरूपण पहले कर चुके हैं। यह सब आत्मसंवित्की ही विशेष अभिव्यक्ति है। अपने स्वरूपमें स्थिति अर्थात् सबके स्वरूपमें स्थिति। कभी स्वरूपसे च्युति नहीं होती। यही युक्ति है जिससे सर्वत्र सर्वज्ञता, सर्वता आदि अभिव्यक्त हो जाते हैं। कहा भी है—'एक ही भाव सबका स्वभाव है। सभी भाव एक ही भावके स्वभाव हैं। जिसने एक ही भावको तत्त्वतः अनुभव कर लिया, उसने सभी भावोंको तत्त्वतः अनुभव कर लिया।[1] इस सम्बन्धमें एक रहस्य-युक्ति है कि जिस-जिस शरीरमें संवित् दृढ़ताको प्राप्त होगी, वहीं-वहीं उसके सब गुण प्रकट हो जायँगे।[2]

अब इन गुणोंको ढँकनेवाले जो दुर्गुण हैं, उनका मूलोच्छेद करनेके लिए कहते हैं—

ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत् कुतः सा स्यादहेतुका॥ ४०॥

आत्मसंवित्के उल्लासको कुण्ठित, लुप्त या विनष्ट करनेवाली यदि कोई वस्तु इस शरीरमें है, तो वह है—ग्लानि। ग्लानि अर्थात् अनुत्साह। उत्साहसे ही स्वभावकी अभिव्यक्ति होती है। ग्लानिका जनक है—अज्ञान। यदि आत्मस्वभावके द्वारा उस अज्ञानको नष्ट कर दिया जाय तो जीवनमें ग्लानि अथवा अनुत्साह नहीं रह सकते। इसी अज्ञान और ग्लानिको मिटाकर योगी लोग जरा-मरणको मिटाकर शरीरको दृढ़ कर लेते हैं।

अब उन्मेषका स्वरूप बतलाते हैं—

एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत्॥ ४१॥

---

१. एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा ह्येकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः॥

२. रहस्ययुक्तिरत्रेयं शरीरे यत्र यत्र च।
संविदो दार्ढ्यलाभः स्यात्तत्र तत्र गुणोदयः॥

पुरुष एक चिन्तामें संलग्न रहता है कि तुरन्त दूसरी चिन्ताका उदय हो जाता है। यह किससे होता है? इसीका नाम है उन्मेष। स्वय उसका अनुभव करना चाहिए। पहली चिन्ताका भूलना और दूसरी चिन्ताका उदय होना—इन दोनोंमें और दोनोंके बीचमें उन्मेष ही है। उस उन्मेषसे अपने आत्माको पहचानना चाहिए। दो चिन्ताओंके बीचमें व्यापकरूपसे अनुभूयमान स्वसवेद्य वही है। युवतीके सहवास-सुखके समान उपदेशगम्य नहीं है ॥ ४१ ॥

उन्मेषका अनुशीलन करनेपर प्रत्ययोंका उदय इस प्रकार होता है।

अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः।
प्रवर्तते चिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥ ४२ ॥

इस उन्मेषका अनुशीलन करनेसे थोड़े ही समयमें भ्रूमध्यमें तेजोबिन्दुका अनुभव होने लगता है। बिन्दुके अनन्तर अनाहत—अकृत्रिम नादका अनुभव होता है। इसीको शब्द-ब्रह्म कहते हैं। दूरसे श्रवणकी सिद्धि भी हो जाती है। अन्धकारमें रूपका दर्शन, देवताका दर्शन, सूक्ष्मातिसूक्ष्मका दर्शन, मुखमें अमृत और षड्रसका आस्वादन आदि। भला ये क्यों अते हैं? वस्तुत: ये क्षोभक हैं अर्थात् आत्मसंवित्की अनुभूतिमें विघ्न हैं। पतञ्जलिने योगदर्शनमें व्युत्थान-कालमें सिद्धि और समाधिकालमें विघ्न माना है।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस बिन्दु, नाद प्रभृतिके निरूपणक्रममें सृष्टिक्रम भी ध्वनित है। पहले कहा जा चुका है कि उन्मेषसे सृष्टि होती है। उन्मेषसे पहले बिन्दु = इच्छा—दृक्शक्तिका प्रसार। तदनन्तर शब्दात्मक नादकी उत्पत्ति होती है। वह क्रियाशक्तिरूप वाक् है। इसके अनन्तर रूपका उदय होता है। वह है पदार्थका दर्शन और विचार। फिर उसीमें रस अर्थात् अभिलाषा और उपभोगका जन्म होता है। जो रहस्यवेदी अनुभवी महापुरुष हैं, वे इनको उद्योग, अवभास, चर्वण और विलापन कहते हैं। इस श्लोकमें इन चारोंके क्रम सूचित कर दिये गये हैं। विशेष अपनी परिभाषाके द्वारा प्रकृतका बाध नहीं करता। इससे स्वयं आत्मसंवित्का साक्षात्कार हो जाता है ॥ ४२ ॥

वह साक्षात्कार कैसे होता है? इसका उपाय बतलाते हैं—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावबोत्स्यते ॥ ४३ ॥

जब पुरुष दिदृक्षा = दर्शनकी इच्छामें स्थित-सा होकर सब पदार्थोंमें व्याप्त होकर बरतता है तो अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं, वह स्वयं ही अपने स्वभावका अवबोध—अनुभव-अवगम प्राप्त कर लेता है। यहाँ इस उपदेशका

आशय समझने योग्य है। जैसे कोई कौतुहलकी वस्तु देखनेके लिए सावधान होकर विकासवृत्तिसे सजग हो जाता है, वैसे ही सब पदार्थोंके दर्शनकी उन्मुखता-रूप वृत्तिसे उदयन्त्रित होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वह स्वयं सर्वज्ञता आदि गुणास्पद अपने स्वभावको प्राप्त कर लेता है। यह बात मूल कारिकामें पहले ही कहा जा चुकी है—'अतः सततमुद्युक्तः' इत्यादि। इस स्थितिको 'तत्त्वार्थचिन्तामणि'में 'रहस्यमुद्रा' कहा गया है। 'भाग मोक्षप्रदीपिका'में इसका वर्णन यों है—'उन्मेष-बलसे उद्यन्त्रित होकर अपने स्वरूपमें रहे। वह योगी आनन्दभूमिमें रहकर स्वयं आये हुए विषयोंका उपभोग भी करता रहता है। यह आनन्दभूमि अत्यन्त उच्छृङ्खल एवं परम विकस्वर है, परन्तु केवल उन लोगोंके लिए, जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध है। सिद्ध पुरुष सदा इसीमें आनन्दरत रहते हैं। यह परा मुद्रा है।' अन्यत्र भी कहा है—'दर्शनादि सारी शक्तियोंको चित्तसे उनके—उनके विषयमें एक साथ फेंक दो। उनके बीचमें स्वर्ण-स्तम्भके समान तुम स्थिर हो। सचमुच तुम एक ही विश्वाधार हो।' और भी—'वेश्या स्त्रीके समान चंचल नेत्रादि शक्तियाँ जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द जाती रहती हैं। इन्हें केवल देखते रहो। इनका अनुगमन मत करो। सचमुच तुम सम्पूर्ण विश्वको धारण कर रहे हो और विश्वसे पृथक् हो ।।। ४३ ।।

इस स्थितिके लिए युक्ति बतलाते हैं—

प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेज्ज्ञानेनालोक्य गोचरम्।
एकत्रारोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते ॥ ४४ ॥

अपनी शक्तियोंका संकोच किये बिना प्रबुद्ध, निर्विकल्प एवं सदा उद्युक्त= सावधान रहे। ज्ञानके सम्मुख जो भी विषय उपस्थित हो, उसको देखकर संवित्की दीप्तिसे ज्ञेयका लोप कर दे, उनको अविभागमें प्रतिष्ठित कर दे। तब उसे दूसरा कोई पीड़ा नहीं पहुँचा सकता।

'भोग-मोक्षप्रदीपिका' में देखिए—'अविभाग-बोधकी अग्निसे विभागको विलुप्त करके वेद्य-पीयूषको पी जाय। फिर वह योगी शीघ्र ही तृप्त, नीरोग और एकाकी विचरण करने लगता है। यह क्रमार्थका सार है और शक्तियोंकी परधारा भूमिका। उसीकी अनुज्ञासे सच्छिष्योंके ज्ञानके लिए इसका वर्णन किया गया है; क्योंकि यह परधारा-भूमिका निर्विभाग है।' कहा गया है—'विभागके हेतु ये प्रसिद्ध हैं—देश, काल, क्रिया और आकार। जिसमें ये नहीं हैं, उसमें विभागका कोई कारण ही नहीं है।' और भी—'विषयसहित मन भस्म करता है। ज्ञानाग्नि अपनी दृष्टिसे उसे भस्म करती है। उसके भस्म हो जानेपर अन्तर्मुखता

और बहिर्मुखता दोनों समाधि हो जाती हैं।' तथा च—'विज्ञानकी वाडवाग्नि प्रदीप्त होकर अपनी शक्तिसे ज्ञेय विषयरूप समुद्रोंको निरन्तर ग्रसती रहती है। दूसरा कोई उसके ग्रासमें समर्थ नहीं है। जल न मिलनेसे प्यास नहीं बढ़ती और बहुत-सा जल मिल जानेपर तृप्ति या कृतकृत्यता नहीं होती। यह ज्ञान ऐसा विलक्षण वड़वानल है।

'यस्मात्सर्वमयो जीवः' इसकी व्याख्यामें इस विषयका सयुक्तिक वर्णन आप पढ़ चुके हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि तत्त्वका स्वभाव विद्यात्मक ज्ञानस्वरूप है। अतः सम्पूर्ण ज्ञेयको उससे एक कर देना चाहिए। बस, इस ऐक्यके होते ही दूसरी कलात्मक विकल्परूप शक्तियाँ फिर किसी प्रकारकी पीड़ा-बाधा नहीं पहुँचा सकतीं अर्थात् स्वरूपसे प्रच्युत नहीं कर सकतीं। कहा भी है—'आकाश एक और व्यापक है। दीवार आदिके संयोगसे उसमें बाह्य—आभ्यंतरका भेद मालूम पड़ता है। इसी प्रकार पशुपति तत्त्वज्ञ ग्राह्य और ग्राहकको एक ही रूप देखता है। आपके समाधिस्वरूपमें विक्षेप्य और विक्षेपक, व्याक्षिप्त और व्याक्षेप्यका कोई भेद नहीं है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार जो प्रबुद्ध पति है, वह दूसरेके द्वारा पीड़ित नहीं होता। इसका यह अभिप्राय स्वयं निकल आया कि जो अप्रबुद्ध पशु है, वही बार-बार संसारमें मार खाता रहता है। उसका लक्षण यह है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥ ४५ ॥

वर्णसमूह ही शब्दराशि है। अकारसे लेकर क्षकारतक मातृका ही शब्द-जननी है; क्योंकि सभी शक्तियाँ वर्णात्मक हैं। उन्हींसे चाहे कादि रूप, चाहे ब्राह्मादि-शक्तिरूप चक्रकी कलाओंसे अर्थात् ककारादि अक्षरोंसे श्रवण और उच्चारण द्वारा पुरुष अपने वैभवको खो बैठता है अर्थात् अपनी महाव्याप्तिको भुला देता है—स्वभावसे च्युत हो जाता है। इसका फल यह होता है कि वह जिन शक्तियोंका स्वामी है, उन्हींका भोग्य बनकर पुरुषके स्थानपर पशु हो जाता है। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'में कहा है—सभी भाव अपनी गोदमें अपनी अङ्गचेष्टाके समान हैं। उनका स्वामी, प्रमाता, संवित् अथवा शिवके नामसे कहा जाता है। परन्तु उन्हीं भावोंमें जब वह फँस जाता है तब क्लेश पाता है और कर्मकी कीचड़से लथपथ पशु हो जाता है।' किसी महात्माका वचन है—'वस्तुतः भेदग्रन्थि स्वतः छिन्न-भिन्न है। उसके छिन्न-भिन्न होनेका ज्ञान होनेपर द्वैत है ही नहीं। इस बातको जो नहीं जानता, वह पशु है और जो जान लेता है, वह पशुपति है ॥ ४५ ॥

इसलिए—

परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः ।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः ॥ ४६ ॥

वह पशु जब कान, आँख आदि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका दर्शन करता है और उसके अन्तःकरणमें स्मरणादि ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, वही परामृत-रससे अर्थात् अपने स्वरूपोदयसे च्युति है; क्योंकि ये विषय-प्रत्यय पुरुषको परतन्त्र और परिच्छिन्न-सा बना देते हैं। सच पूछो तो ये विषय और स्मरण उसके व्यक्तिगत ही हैं अर्थात् उसीको अभिलाषा=अन्तःकरणकी वृत्ति उन-उन रूपोंमें प्रकट हो रही है ॥ ४६ ॥

यही कारण है कि—

स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोद्यता ।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ॥ ४७ ॥

इस पुरुषके स्वरूप=स्वभावको आच्छादित करनेके लिए ये शब्दरूप शक्तियाँ सर्वदा उद्यत रहती हैं अर्थात् क्रियाशक्तिके द्वारा ये पुरुषरूपको हमेशा ढँकना चाहती रहती हैं, क्योंकि बिना शब्दानुवेधके अर्थात् बिना वर्णानुगमके किसी ज्ञानसंवेदनरूप प्रत्ययका उदय नहीं होता। वस्तुतः ये शब्द ही एक ही तत्त्वको वाच्य-वाचक विभागसे दो रूपोंमें बाँटकर प्रकट करते हैं। 'वाक्यपदीय'में ठीक ही लिखा है—'ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता जिसमें शब्दका अनुगम न हो। सभी ज्ञान शब्दसे अनुविद्ध देखे जाते हैं।' पहले कह ही चुके हैं कि इस विश्व-व्यवहारका कारण वाक् ही है। अन्यत्र कहा है—'हे देव ! चित्की उन्मुखतामें सर्वदा बोध ही वाग्-रूप होता है। असलमें वही प्रत्यवमर्शिनी शक्ति है, उसके बिना प्रकाश भी प्रकाशित नहीं हो सकता ॥ ४७ ॥

यही क्रियाशक्ति बन्धन और मोक्षकी हेतु है—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥ ४८ ॥

यही क्रियात्मक शक्ति जो पशुओंको बन्धनमें डालती है और उनको यथेच्छ प्रवृत्त करती है, शिवस्वरूप तत्त्वज्ञ पुरुषके बन्धनका हेतु नहीं बनती। यह जब 'मेरी है' इस प्रकार जानी जाती है तब भोग-मोक्षरूप समग्र सिद्धियोंका कारण बन जाती है। इसका अज्ञान और स्वातन्त्र्य ही बन्धनका हेतु है और ज्ञातता

तथा आत्माधीनता सिद्धिका। यह बात पहले ही कह चुके हैं कि उत्थान और पतनका कारण एक ही है ॥ ४८ ॥

यह शक्ति बन्धनका हेतु कैसे हो जाती है, इस बातको स्पष्ट करके समझाते हैं—

तन्मात्रोदयरूपेण मनोहम्बुद्धिवर्तिना।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थप्रत्ययोद्भवम् ॥ ४९ ॥
भुङ्क्ते परवशो भोग तद्भावात् संसरेदतः।
संसृति-प्रलयस्यास्य कारणं संप्रचक्ष्महे ॥ ५० ॥

बात यह है कि पुर्यष्टकके दो रूप हैं। एक सूक्ष्म आतिवाहिक है अर्थात् वह अभिलाषात्मक और तन्मात्र ही है। दूसरा स्थूल भौतिक भोग-शरीर है। सूक्ष्मशरीरसे आबद्ध अर्थात् अपनेको उससे घिरा हुआ माननेवाला पुरुष परवश होकर उसमें उठनेवाले सुख-दुःख आदि संवेदनरूप प्रत्ययोंका उपभोग करता है। वस्तुतः वह शब्दादिके अनुभव द्वारा ही प्रकट होता है और उतना ही उसका रूप है, मन, अहंकार, बुद्धि, अन्तःकरण। उसीको अपना स्वरूप मानकर वह शरीरी हो जाता है और संसारको प्राप्त होता है। हमारा कहना यह है कि जन्म-मरण और संसार-प्रलयके प्रवाहका यही कारण है। अपने प्रत्ययके सिवा संसारका दूसरा कारण नहीं है ॥ ५० ॥

अब बन्धनके उच्छेदका उपाय वर्णन करते हैं—

यदा त्वेकत्वसंरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार बन्ध और मोक्षका विचार करने पर बोधका उदय और प्रति-बन्धकी निवृत्ति हो जाती है।

दो पुर्यष्टकोंमें-से किसी एक स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकमें पतित्वके सिंहासनपर आरूढ़ हो जाओ। अपने चित्तको विलीन कर लो। तब उनमें उदय-विलय होनेवाले शब्दादि प्रत्ययोंका नियन्त्रण हो जायगा। फिर तुम उनके भोग्य नहीं, भोक्ताभावको प्राप्त हो जाओगे। भोग्यरूप पशुत्वसे मुक्त होकर प्रभुभावको प्राप्त कर लोगे। कहा है—'पशुओंके पति होकर पशुओंके पति हो जाओ। पशुपति होते ही तत्काल पशुत्वसे मुक्त हो जाओगे।' 'स्वबोधोदय-मंजरी'में वचन है—'जो-जो कुछ भी मनोहर वस्तु तुम्हारे नेत्रोंके सम्मुख आये, एकाग्र होकर उसकी तबतक भावना करो, जबतक मन लीन न हो जाय। निरोध तुम्हारा सेवक बन जायगा।'

इस प्रकार स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति होती है तब पुरुष शक्ति-चक्रका स्वामी है माने उसकी सर्वज्ञता, सर्वाधिपतित्व निष्प्रतिबन्ध होकर अभिव्यक्त हो जाता है ॥ ५१ ॥

ग्रन्थकर्ता आनन्दमें भरकर गुरुवाणीकी स्तुति करते हैं शिष्योंको शिष्टाचारकी शिक्षा देनेके लिए—

अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥ ५२ ॥

हमारे गुरुकी वाणी आश्चर्यमयी है। उसके वाच्य और वाचक—अर्थ और पद—दोनों ही विचित्र हैं। अगाध संदेहके समुद्रमें डूबते हुए लोगोंको पार करनेवाली यह नौका है। मैं उसीकी वन्दना करता हूँ।

गुरुसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है। 'जयाख्य-संहिता'में कहा है—'स्वयं-प्रकाश भगवान् जगन्नाथ ही मन्त्रमय शरीर धारण करके करुणावश अपने शास्त्ररूपी करकमलोंसे संसार-समुद्रमें डूबते हुए लोगोंका उद्धार करते हैं।' 'नारद-संहिता'में वचन है—'संसारका मूलोच्छेद करनेवाले गुरुको अपने सर्वस्वकी दक्षिणा दे देना भी बहुत थोड़ा है।' 'स्वयं-प्रदीपिका'कारका कहना है कि जिसके मनमें भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा हो, उसे पहले गुरुका अन्वेषण करना चाहिए। भगवान्‌की पहचान होती है—शास्त्रसे और शास्त्रका अनुभवात्मक ज्ञान होता है गुरुसे। शास्त्रज्ञानसे विषयज्ञानका विलय हो जाता है। सच पूछो, तो पहचाननेभरकी देर है, भगवान् तो मिला हुआ ही है। अतएव शास्त्र और ईश्वर—दोनोंसे गुरु श्रेष्ठ है। 'पञ्चरात्र' में भी कहा गया है कि 'गुरुके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा भगवान्‌के साथ' ॥ ५२ ॥

अब अपने सम्प्रदायका समाम्नान करते हैं—

वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः ॥ ५३ ॥

श्रीभट्ट कल्लटने अपने तत्त्वार्थदर्शी गुरु वसुगुप्तसे यह रहस्य भलीभाँति प्राप्त करके श्लोकबद्ध किया।

यह ब्रह्मविद्याका बीज है। विना परीक्षा किये अयोग्य क्षेत्रमें इसको नहीं बोना चाहिए। भट्ट कल्लटने ही अन्यत्र कहा है—'सिद्धविद्या एक गुणवती कन्याके समान है। गुणवर्जित पुरुषके प्रति उसका दान करनेसे वह सम्भोग तो देती ही नहीं, दाताकी अपकीर्तिका कारण बनाती है। इसलिए सद्गुणसम्पन्नको ही इस विद्याका उपदेश करना चाहिए' ॥ ५३ ॥

काम : चार पुरुषार्थोंमें दूसरा

अनन्तश्री करपात्रीजी महाराज

पुरुष जिसे चाहे वह पुरुषार्थ। पुरुष चाहता है सुख। धर्म और अर्थ सुखके साधन हैं। काम और मोक्ष सुखस्वरूप हैं। काममें सुखकी अल्पता है और मोक्षमें सुखकी पूर्णता। सुखानुभूति भक्ति है। काममें सुखकी अल्पता होनेपर भी भागवतके अनुसार वह वासुदेवांश ही है। अतः उसे भी पुरुषार्थ होनेका गौरव प्राप्त है। ईश्वर भी सकाम होकर ही महद् ब्रह्म प्रकृतिमें गर्भाधान करता है। श्रुतियोंमें 'अकामयत' 'वहु स्याम् प्रजायेय' और स्मृतियोंमें 'गर्भं दधामि' इन पदोंका प्रयोग कामकी ईश्वरांशताके सूचक हैं।

लोक-व्यवहारमें जिसे काम कहते हैं, उसकी अपेक्षा आधिदैविक ईश्वर काम अत्यधिक सुखमय है। निरुपाधिक ब्रह्म स्वयं मोक्षसुख है। तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्यानवृत्तिसे वह उपलक्षित है। सोपाधिक ब्रह्म ही काम-सुख है। इसे वासुदेवांश कहनेका यही कारण है। कामके परमार्थरूप राम हैं। वे सूर्यके सूर्य, अग्निके अग्नि, प्रभुके प्रभु, श्रीके श्री—इस वाल्मीकि-वचनके अनुसार कामके भी काम हैं। भागवतमें श्रीकृष्णको साक्षात् मन्मथ-मन्मथ कहा गया है। ब्रह्ममें ही प्रेम तथा सौन्दर्य दोनोंका अन्तर्भाव है। इसलिए उन्हीं दोनोंकी शक्तियाँ स्त्री-पुरुषका आकार

यह विद्या अविद्या-तमको निवृत्त करनेके लिए प्रकाशित की गयी है। 'स्पन्द-प्रदीपिका' शुद्धबोधका उल्लास है, मात्सर्य छोड़कर इसके अर्थपर विचार करना चाहिए। यह एक आश्चर्य है। इसका अनादर नहीं करना चाहिए।

उत्पलाचार्य त्रिविक्रमके पुत्र एवं ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न हुए हैं। सच्छिष्योंके लिए इस प्रदीपिकाकी रचना की है। जैसे दीपक हाथमें लेकर चलनेवालेके चरण स्खलित नहीं होते, वैसे ही यह प्रदीपिका अमार्गमें भी प्रकाश देती है। सावधान होकर इस प्रदीपिकाको धारण करनेसे जीवन-कालमें ही पुरुष अपनी भगवत्ताका अनुभव करता है। इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा?



भी ग्रहण करती हैं—कामेश्वर एवं कामेश्वरी, शिव तथा शक्ति। ये दिव्य दम्पती समष्टि विश्वके उत्पादक हैं। ठीक इसी प्रकार व्यष्टि नर-नारी दम्पती व्यष्टि-प्रपंचके उत्पादक हैं। हैं वही।

शरीरके साथ धनका सम्बन्ध है। मनके साथ कामका। बुद्धिके साथ धर्मका। बुद्धि ही धर्मरूपसे अर्थ और कामके सेवनको नियन्त्रित करती है। मोक्षका आत्माके साथ असाधारण अनिर्वचनीय सम्बन्ध है। अज्ञानकालमें सम्बन्ध और ज्ञान होनेपर स्वरूप। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्माका परस्पर साधारण सम्बन्ध है, वैसे ही अर्थ, काम, धर्म एव मोक्षका भी परस्पर सम्बन्ध है। वह काम सामान्य और विशेष दो प्रकारका होता है। वात्स्यायन-काम-सूत्रके अनुसार आत्मसंयुक्त मनसे अधिष्ठित ज्ञानेन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें अनुकूलभावसे प्रवृत्ति काम है। यह सामान्य कामका लक्षण है। एक विशेष प्रकारके स्पर्शकी प्राप्तिके लिए सम्मिलित रूपसे जो अभिलाषा होती है, वह विशेष काम है। उसमें आभिमानिक सुखका अनुवेध रहता है और प्रवृत्तिके साथ उसका फल भी जुड़ा रहता है। वात्स्यायन-कामसूत्रमें प्रधानतः विशेष कामका यही लक्षण बतलाया गया है। स्पर्श-विशेषकी प्राप्ति होनेपर एक सुखाभिमानका उदय होता है और ऐसा जान पड़ता है, मानो हमारी प्रवृत्ति सफल हो गयी। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि काम-विशेषमें सङ्कल्प और अभिमानकी ही प्रधानता है। शार्ङ्गधर-संहिता (१.६) में कहा गया है कि 'कामका मूल सङ्कल्प है। सङ्कल्प अर्थात् सम्यक्त्वकी कल्पना। सङ्कल्प छूटा और काम मिटा। स्त्री-पुरुषके पारस्परिक स्नेहको ही काम कहते हैं।'

शास्त्रदृष्टिसे इस सङ्कल्प एवं अभिमानमूलक प्रवृत्तिरूप कामकी सफलता सन्तानकी प्राप्तिमें हैं। अतएव विवाहके मन्त्रोंमें कहा जाता है : 'प्रजां प्रजनयावहि'—हम दोनों मिलकर सन्तान उत्पन्न करेंगे। अथर्ववेद (१४.१.५२) में विवाह-कालीन मन्त्र है—

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं
त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावती सं
जीव शरदः शतम्॥

यह वधू मेरी पोष्य हो अर्थात् मैं इसको संपुष्ट करूँ। तुम्हें बृहस्पतिने मुझे दिया है। मैं तुम्हारा पति। मुझे प्राप्त करके तुम प्रजावती पत्नी बनो। तुम सौ वर्षतक भलीभाँति अपना जीवन व्यतीत करो।

इस मन्त्रमें पतिके द्वारा पत्नीका प्रजावती होना ही विवाहकी सफलता

है—ऐसा वर्णन है। परन्तु इससे भी बड़ा फल है पति-पत्नीका साथ-साथ यज्ञादिरूप धर्मका अनुष्ठान। उपनिषद्‌में कहा है—'मुझे पत्नी प्राप्त हो और उसके सहयोगसे मैं कर्म करूँ।' अर्थात् धर्मके उद्देश्यसे ही पत्नीकी कामना है। दम्पतीका सहाधिकार होनेके कारण पत्नीके बिना कर्मानुष्ठान नहीं हो सकता। पाणिनिने यज्ञ-संयोगमें ही 'पत्नी' शब्दको सिद्ध किया है। यज्ञादिके अनुष्ठान द्वारा स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। निष्काम-भावसे भगवान्‌की आराधनाके लिए यज्ञादि धर्मका अनुष्ठान करनेपर अन्तः-करणकी शुद्धि होती है और वह दम्पतीके द्वारा आचरित धर्म मोक्षका भी परम्परा या साधन हो जाता है। कामशास्त्रकी रीतिसे कामोपभोग करनेपर तृप्ति और वैराग्यका भी उदय हो जाता है; क्योंकि शुद्ध अन्तः-करणमें मुमुक्षाका उदय होता है। फिर श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। शास्त्र-विधिके अनुसार कामसेवन न करनेपर पशुवत् सार्वकालिक विषयपरायणता बनी रहती है। पुराणोंमें कहा है—

कुरङ्ग-मातङ्ग-पतङ्ग-भीन-
भृङ्गा हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

'हरिन, हाथी, पतंग, मछली और भ्रमर—ये पाँचों पाँच विषयोंमें-से एक-एकके प्रति आसक्ति होनेके कारण ही मारे जाते हैं। वह प्रमादी मनुष्य जो एक होनेपर भी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंके प्रति आसक्त हो जाता है वह भला, मृत्युका ग्रास क्यों नहीं बनेगा?' रसासक्तिके वशी-भूत होकर भ्रमर कमलकोशमें बन्दी बन जाता है। सूखी लकड़ीमें छेद करनेका सामर्थ्य उसमें है, परन्तु कोमल-कोमल कमलदलोंका भेदन करनेमें वह असमर्थ हो जाता है। यह वचन अत्यन्त प्रसिद्ध है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति
सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति
हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते
द्विरेफे, हा हन्त हन्त
नालनीं गज उज्जहार॥

कमलकोशमें बन्दी होकर भ्रमर इस प्रकार मनोराज्य करने लगता है कि रात बीतेगी, सुप्रभात होगा, भुवनभास्करकी स्वर्णिम किरणें बिख-रेंगी, कमलकी सुन्दरता मुसकरायेगी। हाय-हाय, इसी बीच हाथी आकर कमलिनीको उखाड़ देता है!

बन्धानि किल सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रि-
र्बध्यते स किल पङ्कजकोशे॥

बन्धन तो बहुत हैं परन्तु प्रेमकी रस्सीका बन्धन कुछ और ही है। षट्पद भ्रमर सूखी लकड़ी छेदनेमें

निपुण है परन्तु वह कमलकोशमें आवद्ध हो जाता है।

शास्त्रपरायण यज्ञनिष्ठ पुरुषके लिए जो पत्नी-संवन्ध अवैध कामादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिए दुर्गका आश्रय लेनेके समान साधन-रूप है। श्रीमद्भागवतके (३.४) में कश्यपका वचन है—'गृहस्थाश्रमी अपनी पत्नीके साथ व्यसनोंको वैसे ही पार कर जाता है जैसे जल-यानसे समुद्रको। स्त्री पुरुषका आधा शरीर है। उसपर अपना भार डालकर पुरुष निश्चिन्त हो जाता है। दूसरे आश्रमोंमें इन्द्रियरूप शत्रुपर विजय प्राप्त करना कठिन है, गृहस्थाश्रममें सुगम है। दुर्गमें सुरक्षित व्यक्तिका डाकू क्या विगाड़ सकते हैं ?'

इसके लिए शास्त्रविहित काम-सेवन उचित है। धर्मविरोधी काम भगवान्‌को विभूति है—यह कहा जा चुका है। अतएव मनु आदि धर्माचार्योंके समान कौटल्य भी बन्धु-बान्धव-सम्पन्न सवर्णा एवं अनन्यपूर्वा कन्याके साथ विवाहको ही वैध कहा है। जिसका कभी दूसरेके साथ सम्बन्ध न हुआ हो, ऐसी सवर्णा कन्याके साथ विवाह करनेपर धर्म, अर्थ, पुत्र, सम्वन्ध, पक्षवृद्धि और समृद्ध रतिकी प्राप्ति होती है; क्योंकि ऐसी पत्नीसे ही वंशवृद्धि करनेवाला योग्य पुत्र, प्रीति और शुद्ध रति मिलती है। धन, जन, कुल, यौवन, सौन्दर्य आदिमें समानता होनेपर ही प्रीति बढ़ती है। अत्यन्त उत्कृष्टता या अपकृष्टता होनेपर दम्पतीके प्रेममें वाधा उपस्थित होती है, जैसा कि वात्स्यायन-कामसूत्रमें कहा है—

परस्परसुखास्वादा
क्रीडा यत्र प्रयुज्यते।
विशेषयति चान्योन्यं
सम्बन्धः स विधीयते॥
(अधि० २, अ० १.१३)

वह सम्वन्ध विहित है जिसमें एक-दूसरेको परस्पर सुख देनेवाली क्रीडाका प्रयोग होता है और दोनों एक-दूसरेको विशेषता देते हैं। अथर्ववेद-संहिता (१९.५२.३) में मन्त्र है—

दूराच्चकमानाय
प्रतिपाणायाक्षये ।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः
कामेना जनयन्त्स्वः॥

मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ फलकी इच्छा करता है। इसकी रक्षा, अभिमत फलकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिए पूर्व आदि दिशाओंने प्रतिज्ञा कर रखी है। केवल प्रतिज्ञा ही नहीं, प्रत्युत मनुष्यको काम-पूर्तिके द्वारा उसे सुख भी इन दिशाओंने ही दिया है।

अथर्ववेद-संहिताका दूसरा मन्त्र (१९.५२.४) है—

कामेन मा काम आगन्
हृदयाद्धृदयं परि ।
यदमीषामदो मन-
स्तदैतू (दुपैतु) मामिह॥

काम अर्थात् फलविषयक इच्छासे काम्यमान अभीष्ट फल मुझे प्राप्त हो। ब्रह्मने जगत्-सृष्टिके लिए जो नौ ब्रह्माओंकी सृष्टि की थी, उनके हृदयोंसे हमारे हृदयमें मन अवतीर्ण हो तथा इस फल-कामनामें मुझ कामयिताको प्राप्त हो। अर्थात् हमारा मन शक्ति-सम्पन्न होकर हमारे इच्छित फलको प्राप्त करे।

विवाहके पश्चात् वर-वधूके प्रथम मिलनमें तीन राततक नीचे शयन करनेका विधान है। ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए। भोजनमें क्षार और नमक नहीं लेना चाहिए। सात दिनों तक बाजे-गाजेके साथ मङ्गल-स्नान करना चाहिए। शृङ्गारसे रहना चाहिए। एक-दूसरेके साथ बैठकर भोजन करना चाहिए। परस्पर दृष्टि मिलानी चाहिए और सम्बन्धियोंका सत्कार करना चाहिए। यह मर्यादा सभीके लिए है। धार्मिक और सामाजिक नियमोंका पालन करना कामपूर्तिके लिए आवश्यक है। शास्त्र-दृष्टिसे पतिको चाहिए कि पत्नीके हृदयमें प्रीति उत्पन्न करे, उसका सम्मान करे। सबसे बड़ी बात यह कि पत्नीके हृदयमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे। पत्नीके हृदयमें अपने प्रति जितना विश्वास होता है, उतनी अधिक प्रेमकी वृद्धि होती है। स्वयं प्रीति करे और प्रीति प्राप्त करे। प्रीतिसे ही प्रीति उत्पन्न होती है। प्रत्येकके हृदयमें सम्मानकी भावना रहना आवश्यक है। जो वधूके हृदयमें विश्वास उत्पन्न करनेमें जितना सफल होता है, वह उसका उतना ही प्रिय होता है।

वात्स्यायन - कामसूत्रमें स्त्रीके लिए ऐसा विधान है कि वह पति-निष्ठ हो और पातिव्रत-धर्मका पालन करे। अपने पतिको देवता समझकर सम्मान करे और पतिके अनुकूल व्यवहार करे। परिवारकी चिन्ता भी पत्नीका ही कर्तव्य है। वहाँ कहा गया है कि स्त्री भोजन-निर्माणमें निपुण हो। शृङ्गारका ध्यान रखे। अङ्गराग लगाये। अपने मुख, दाँत और वस्त्रको निर्मल, उज्ज्वल एवं रंगीन रखे। संगीत और वाद्यमें भी निपुणता प्राप्त करे। उसे चौसठों कलामें कुशल होना चाहिए।

पुरुषके सम्बन्धमें भी कहा है कि वह धर्म, धन और समयके अनुसार सब काम करे। उसे कामसूत्र और उसमें सहायक विद्याओंका अध्ययन भी करना चाहिए। धनके बिना कामसुखमें बाधा पड़ती है। अतः विद्या, बुद्धि और शारीरिक परिश्रमसे धन-सम्पादन करना चाहिए। धन उत्तराधिकारमें, क्रय-विक्रयसे, विजयसे और प्रतिग्रह आदिसे प्राप्त होता है। मनुस्मृतिमें धन-प्राप्तिके सात स्रोत बताये हैं। उन्हींके द्वारा अप्राप्त सुख-सामग्रीको प्राप्त करे और प्राप्तकी

रक्षा करे। गृहस्थाश्रममें मनुष्यको एक अच्छे नागरिकके समान रहना चाहिए। नागरिकके लिए यह भी आवश्यक है कि वह सूर्योदयका आदर करे, अर्थात् प्रातःकाल उठ जाय। नित्यकर्म करके दाँत स्वच्छ रखे। तिलक लगाये। घरमें और शरीरमें धूप एवं पुष्प का सुगन्ध रहे। राज कुछ-न-कुछ दे। अलक्तक लगाये। शोशेमें मुख देखना चाहिए। मुख सुगन्धित न रहनेसे स्त्री-पुरुषकी प्रीतिमें विघ्न पड़ता है। मुखवास और ताम्बूल ग्रहण करना चाहिए। शरीरसम्बन्धी कर्तव्य पूरे करके तव दूसरे काममें लग जाय। ये सब बातें कामसूत्र द्वारा जानने योग्य हैं।

अथर्ववेद-संहिता (६.६८.३) में बाल वनानेका विधान है—

येनावपत सविता क्षुरेण
सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपते दमस्य
गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान्॥

सविता देवता वाल बनानेकी विद्याके जानकार हैं। उन्होंने छूरेके द्वारा राजा सोम और वरुणका वाल संवारा था। हे ब्राह्मणो! वैसे ही छूरेसे इस मनुष्यके केश सँवारो और दाड़ी-मूछ बनाओ। यह केश-वपन भी एक विशिष्ट संस्कार है। इस संस्कारसे संस्कृत यह पुरुष पुत्र-पौत्रादिसे युक्त होता है और उसके पास गाय, वैल और घोड़े रहते हैं।

भारतीय संस्कृतिमें भूषण-अलंकार आदिके द्वारा स्त्रियोंका सम्मान करना आवश्यक समझा गया है। जिस गृहस्थके घरमें स्त्रियोंका सत्कार होता है, उसमें देवता सुखपूर्वक निवास करते हैं—ऐसा मनुका कहना है। अथर्ववेद - संहिता (६.१२२.५) देखिये—

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि। यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽह-मिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥

इस मन्त्रमें लोक और शास्त्रकी दृष्टिसे स्त्रियोंको शुद्ध और पवित्र कहा गया है। यज्ञमें वह पुरुषके साथ वैठती है, इसलिए यज्ञीय भी है। स्त्रियोंको योग्य वरकी प्राप्ति हो जाय और शास्त्रोक्त वैवाहिक मन्त्रोंसे उनका अभिषेक किया जाय, तो पर-मेश्वरके अनुग्रहसे वह पिता और ससुर दोनोंके वंशका कल्याण करती है और समीके लिए हितकारिणी हो जाती है।

अभि त्वा मनुजातेन
दधामि मम वाससा।
यथाऽसो मम केवलो
नान्यासां कीर्तयाश्च न॥

(अथर्ववेद-संहिता ७.३७.१)

अहं वदामि नेत् त्वं
सभायामह त्वं वद।
ममेदसस्त्वं केवलो
नान्यासां कीर्तयाश्च न॥

(अथर्व० सं० ७.३८.४)

पत्नी पतिसे कहती है—पतिदेव! मैं इस पहने हुए अभिमन्त्रित वस्त्रसे तुम्हें बाँध रही हूँ। इस बन्धनका अभिप्राय क्या है? इसका अर्थ है कि इस प्रकार तुम केवल मेरे ही रहो, दूसरी किसी स्त्रीके नहीं। मैं ऐसा तुम्हें बाँधती हूँ कि तुम किसी दूसरी स्त्रीका नाम भी न लो।

दूसरे मन्त्रमें पत्नी ओषधिकी प्रार्थना करके अपने पतिसे कहती है—'पतिदेव! मैं पुनः कहती हूँ कि तुम दूसरी स्त्रीसे बात न करना। इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम्हारे बोलनेपर कोई रोक है। तुम लोगोंकी सभामें, विद्वत्-समाजमें ही स्त्रियोंसे भाषण करो।'

इसका एक यह भी अभिप्राय है कि मेरे पास तुम्हें मेरी ही सुननी पड़ेगी। तुम मेरे अनुकूल बोलना, प्रतिकूल नहीं। जहाँ मैं न होऊँ, वहाँ भी आप सभामें यथेष्ट बोल सकते हैं, पारिवारिक अथवा ग्राम्य-चर्चामें नहीं। दूसरे मन्त्रका भी ऐसा ही अभिप्राय है कि पति केवल पत्नीका ही है, दूसरी स्त्राका नाम लेना अर्थात् उसका ओर आकृष्ट होना पतिका धर्म नहीं है।

इन मन्त्रोंमें यह कहा गया है कि धर्म-विवाहके बन्धनमें आबद्ध दम्पती परस्पर प्रेमसे नियन्त्रित एवं व्यभिचार-रहित रहते हैं। इससे उनका इहलोक और परलोक—दोनों सिद्ध होता है। धर्म-नियन्त्रित भोगमें स्वाभाविक ही अधिक सन्तान नहीं होती। इसलिए परिवार-नियोजनरूप फल अनायास हो सिद्ध हो जाता है। दम्पतीके सहयोगसे ब्रह्मचर्य और भोग-नियन्त्रणसे ही परिवार-नियोजनकी सिद्धि है। स्त्री-पुरुषको वन्ध्या या नपुंसक बना देना शास्त्रविरुद्ध एवं अनुचित है। शास्त्रप्रधान मनुष्य शास्त्रोक्तविधिका अनुसरण करता है और शास्त्र-निषिद्धका परिवर्जन। अतएव वह जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी और वीतराग हो जाता है। उसका इहलोक और परलोकमें अभ्युदय तो होता ही है, अन्तिम मोक्षसुखकी भी उपलब्धि होती है।

कामशास्त्रमें यह भी कहा है कि मनुष्य शास्त्रोक्त रीतिसे अर्थोपार्जन, कामसेवन और धर्मानुष्ठान करे तो जीवनकालमें और मरणोत्तर भी दुःखरहित आत्यन्तिक सुख प्राप्त करता है।

वात्स्यायन महर्षिने ब्रह्मचर्य और पर-समाधिसे सम्पन्न होकर लोकव्यवहारके लिए कामशास्त्रका निर्माण किया है। यह भोग-रागकी वृद्धिके लिए नहीं है। अन्ततः योग और मोक्षकी प्राप्तिके लिए है—

तदेतद् ब्रह्मचर्येण
परेण च समाधिना।
विहितं लोकयात्रार्थं
न रागार्थोऽस्य संविधिः॥
(म० औ०)

केवलाद्वैतमें ही ब्रह्मसूत्रोंका स्वारस्य

पण्डितप्रवर श्री एस० सुब्रह्मण्यशास्त्री,

(सम्मानित प्राध्यापक—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्मविषयक प्रमाण, विरोधोंका निराकरण, ज्ञानके साधन और उसका फल—इन विषयोंका निर्णय करनेके लिए ब्रह्मसूत्रोंको रचना हुई है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' प्रथम सूत्र है और 'अनावृत्तिः शब्दात्' अन्तिमसूत्र। पाणिनीय अष्टाध्यायी (४।३।१७०) में इसे 'भिक्षुसूत्र' कहा गया है। इसका कारण यह है कि मुख्यतः साधन-चतुष्टयसम्पन्न संन्यासी इसका श्रवणादि किया करते थे। ये वादरायण-सूत्र वेदान्त-वाक्यरूपी पुष्पोंकी माला गूंथनेके लिए सूत्र हैं, केवल अनुमानोंका उल्लेख करनेके लिए नहीं—ऐसा भगवत्पाद शंकराचार्यका वचन है। अभिप्राय यह है कि ये उपनिषदोंका तात्पर्य-निर्णय करनेके लिए हैं। यही कारण है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' और 'जन्माद्यस्य यतः' इन दोनों सूत्रोंमें उपनिषद्गत पदोंको ही स्थान दिया गया है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुतिके 'यत्' 'इदम्' 'ब्रह्म' और 'जिज्ञासा'—ये चारों पद सूत्रोंमें आ गये हैं। इन सूत्रोंका परम तात्पर्य क्या है? इस प्रश्नका निःशंक उत्तर यह है कि जो उपनिषदोंका तात्पर्य है, वही सूत्रोंका तात्पर्य है। इस प्रकार डॉ० थीबो नामक प्राचार्यने अपने शांकरभाष्यानुवादमें जिस मतकी स्थापना की है, उसका खण्डन हो जाता है। उनका कहना है कि 'भिन्न-भिन्न ऋषियोंने, भिन्न-भिन्न समयपर, भिन्न-भिन्न उपनिषदोंकी रचना की है। अतः उनकी एकवाक्यता करना अशक्य और अनावश्यक है। यदि एकवाक्यता सम्पादन करनी ही हो तो शंकराचार्यकी रीति समीचीन है। परन्तु ब्रह्मसूत्र रामानुज-मतके ही अधिक अनुकूल हैं।' उनका यह मत विचारकी कसौटीपर खरा नहीं उतरता।

मीमांसा-भाष्यकार शबरस्वामीने अर्थ-निर्णय करनेके लिए जिस न्यायका उल्लेख किया है, ब्रह्मसूत्रोंका अर्थ-निर्णय करनेके लिए भी उसी न्यायका

अनुसरण करना चाहिए । उन्होंने शास्त्रारम्भमें ही कहा है कि 'लोकव्यवहारमें जिन पदोंका प्रयोग जिन अर्थोंमें होता है, सूत्रोंमें भी उन पदोंका वही अर्थ है—ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए। अध्याहार आदिके द्वारा इनके अर्थकी कल्पना नहीं करनी चाहिए । स्वोत्प्रेक्षित परिभाषा भी नहीं बनाना चाहिए ।' इस नियमका अनादर करनेपर सूत्रार्थं अव्यवस्थित हो जायँगे । (अध्याहार करना माने उधार लेना) ।

जिज्ञासा-सूत्र :

पहले ही सूत्रमें 'ब्रह्म'पदका प्रयोग है । वेदमें 'ब्रह्म'शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें मिलता है—वेद, ब्रह्मा, जोव, तपस्या, शिव और विष्णु आदि अर्थोंमें 'ब्रह्म' शब्द रूढ़ है। जब रूढ़ियोंमें कलह होता है तब योगवृत्तिका उदय होता है। अतएव भगवत्पाद शंकराचार्यने जगद्वाचित्व-अधिकरणके न्यायसे योगार्थं ग्रहण किया है । 'वृहि वृद्धौ' धातुसे 'मनिन्' प्रत्यय होनेपर 'ब्रह्म' शब्द बनता है। ब्रह्ममें देश-कालादिरूप परिच्छेदक-विशेषका ग्रहण न हाना और अभावका प्रतियोगी न होना—यह अथ 'ब्रह्म' शब्दसे बोधित होता है। (घटके अभावका प्रतियोगी घट है। जो किसी अभावका प्रतियोगी होता है वह नश्वर और परिच्छिन्न भाव होता है) । अभाव चार प्रकारके होते हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव । ब्रह्म किसी प्रकारके अभावका प्रतियोगी नहीं है । जो लोग ब्रह्मके अतिरिक्त किसी और वस्तुको सत्ता स्वीकार करते हैं, उनके मतमें ब्रह्म अन्योन्याभावका प्रतियोगी हो जायगा । वस्तुतः ब्रह्म अद्वितोय है। यदि चित् और अचित्को ब्रह्मका शरीर माना जाय तो भी ब्रह्ममें स्वगतभेद अनिवार्य हो जाता है; क्योंकि वे दोनों परस्पर भिन्न हैं । जो लोग 'ब्रह्म' शब्दको गुणपूर्णका वाचक मानते हैं, उनके मतमें अप्रसिद्धार्थकी कल्पना करनेके कारण पारिभाषिकत्वकी प्राप्ति होगी । अद्वैत-सिद्धान्तमें ये दोनों दोष नहीं हैं। सत्य-ज्ञान-आनन्दस्वरूप ब्रह्म अज्ञात-रूपमें विषय है और ज्ञातरूपमें वही फल है, अतः पुरुषार्थं है। ऐसा ब्रह्म निष्प्रपंच और जीवाभिन्न है। 'ब्रह्म' शब्दका ऐसा अर्थं होनेके कारण उसका तात्पर्य अद्वैतमें सिद्ध होता है।

'शारीरक' नामका अभिप्राय :

ब्रह्मसूत्रका दूसरा नाम है। 'शारीरक-सूत्र' । मूल सूत्रमें 'शारीर' पदका पुनः पुनः प्रयोग है—'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' (१.२ १.३), 'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदनैनमधीयते' (१.२.५.२०), 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्' (४.२.५.१२)। इन सभी सूत्रोंमें

सब आचार्योंके मतसे 'शारीर' शब्दका अर्थ जीव हैं। अभिप्राय यह कि ये शारीरक-सूत्र हैं तो जीव-मीमांसा, परन्तु वे जीवस्वरूपका शोधन करके उसका ब्रह्मरूपमें बोधन कराते हैं। जीव-मीमांसा ही ब्रह्म-मीमांसा हो जाती है। ब्रह्म-मीमांसा और शारीरक-मीमांसा—ये एक ही शास्त्रके दो नाम हैं। अतः स्पष्ट हो जाता है कि जीव और ब्रह्मका अभेद ही इस शास्त्रका विषय है। चित् और अचित् परमात्माके शरीर हैं, इसलिए उसे 'शारीरक' कहते हैं, उसकी मीमांसा शारीरक - मीमांसा—ऐसी व्याख्या करनेमें एक दोष है। वह यह कि 'शारीरक' पदको पारिभाषिक मानना पड़ता है। सूत्रोंमें तो जीवके लिए ही शारीरक पदका व्यवहार है। 'शरीर' शब्दसे कुत्सित अर्थमें 'क' प्रत्यय होकर 'शरीरक' शब्द बनता है। 'तत्र भवः' इस अर्थमें तद्धित प्रत्यय होकर 'शारीरक' शब्द व्युत्पन्न होता है। उसकी मीमांसाका अर्थ है—जीवके स्वरूपका शोधन करके उसके ब्रह्मत्वका निर्णय।

जिज्ञासा-सूत्रमें जिज्ञासाका फल मोक्ष है, यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है। मोक्ष है वन्धनिवृत्ति। वह वन्ध-निवृत्ति होती है ज्ञानसे। वन्ध हुआ ज्ञान-निवर्त्य। जो ज्ञान-निवर्त्य होता है, वह मिथ्या होता है। जीवगत बन्धन ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त होता है अर्थात् अज्ञानमूलक बन्धन निवृत्त हो जाता है। जीवका परमार्थस्वरूप ब्रह्म है। इसीसे जीव-ब्रह्मका अभेद सिद्ध हो जाता है; क्योंकि अन्यके ज्ञानसे अन्यका वन्धन निवृत्त नहीं हो सकता। इसको इस प्रकार कहना चाहिए—जीव ब्रह्मसे अभिन्न है; क्योंकि वह ब्रह्मके ज्ञानसे निवृत्त होने-वाले वन्धका आश्रय है। जो जिसके ज्ञानसे निवर्त्य अज्ञानका आश्रय होता है, वह उससे अभिन्न होता है; जैसे शुक्तिसे अभिन्न इदमंश। सत्य-ज्ञानानन्दात्मक निर्गुण ब्रह्म जीवसे अभिन्न ही है। प्रपञ्च मिथ्या है। ज्ञेय मिथ्या और ज्ञाताका परमार्थ—स्वरूप ब्रह्म—यही अद्वैत-सिद्धान्त है। सूत्रोंमें इस जीव-ब्रह्मके अभेदका कहाँ वर्णन है, इसपर विचार करते हैं।

शास्त्रदृष्टि सूत्र :

प्रथम अध्यायके प्रथम पादमें यह सूत्र है—'शास्त्रदृष्टया तूपदेशो वामदेववत्' (१.१.११.३०)। इसमें यह विचार है कि कौषीतकी उपनिषद्में इन्द्रने अपने आपको प्रज्ञात्मा प्राण वतलाया और आदेश दिया कि 'यही आयु और अमृत है—आनन्द, अजर, मरण; उसकी उपासना करनी चाहिए। इन्द्रका कहना है कि मेरी उपासना करो और मुझे ही जानो। अब प्रश्न यह है कि इन्द्र जव अपनी

उपासना करनेके लिए कह रहा हैं तो क्या यहाँ जीवको ही उपास्य कहा जा रहा है ? इस शंकाका समाधान किया गया कि श्रुतिमें अध्यात्मसम्बन्धी धर्मोंका ही विशेष निरूपण है इसलिए यह परमात्माकी उपासना है, जीवकी नहीं। इसके बाद प्रश्न उठाया गया कि फिर इन्द्रने 'मुझे ही जाना' ऐसा 'अस्मत्' शब्दका प्रयोग क्यों किया ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए शास्त्रदृष्टि-सूत्रकी रचना की गयी।

उसका यह अर्थ है। शास्त्रसे प्राप्तदृष्टि ही शास्त्रदृष्टि है—शास्त्रजन्य-ज्ञान। यहाँ 'शास्त्र' शब्दका अर्थ है—'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि ऐक्यबोधक वाक्य। तज्जन्यज्ञान है—अहं ब्रह्मास्मि। इस ज्ञानकी दृष्टिसे ही इन्द्रने कहा—'मुझे ही जानो'। इस प्रसंगमें शास्त्रके विशेष वाक्यों तत्त्वमस्यादिको शास्त्र कहनेका अभिप्राय यह है कि यह सब शास्त्रोंका सार है और शास्त्र इसीके उपकार हैं। इन वाक्योंके अर्थका परिज्ञान ही परमपुरुषार्थका साधक है। एक ही वाक्यसे ये सब अभिप्राय प्रकट हो जाते हैं। ऐक्यबोधक वाक्योंका जो अर्थ है, वही शास्त्रार्थ है और उसीमें शास्त्रका परम तात्पर्य है। इन शास्त्रोंका स्वारस्य जीव और ब्रह्मको एकतामें ही है। दूसरे मतवादियोंने जो अर्थ बताये हैं, वे लाक्षणिक हैं और उनमें अध्याहार आदिकी अपेक्षा है। विचारपूर्वक यह निर्णय पहले ही किया जा चुका है।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च (४. १. २. ३)—यह सूत्र भी जीव-ब्रह्मके अभेदमें प्रमाण है। इसमें प्रश्न यह उठाया गया है कि शास्त्रोक्त परमात्माको क्या 'अहम्' के रूपमें ग्रहण करना चाहिए या

१. इन्द्र तत्त्वमस्यादि शास्त्रकी दृष्टिसे अपनेको ब्रह्म अनुभव करता हुआ कह रहा है कि 'मुझे ही जानो'। सूत्रमें दृष्टान्तके रूपमें वामदेवका उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद्में वामदेवके सम्बन्धमें कहा गया है—'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च'। ऋषि वामदेव ब्रह्मका साक्षात्कार करते हुए बोल पड़े: 'मैं ही मनु हुआ और मैं ही सूर्य हूँ।' यहाँ वामदेव, मनु और सूर्यके नामरूप अलग-अलग हैं। अतः नाम-रूपका आरोप अपवादित करके ही कहा जा सकता है कि 'मैं ही मनु और मैं ही सूर्य हूँ'। इसका अभिप्राय यह है—तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १. ४. १०): 'जिसने ब्रह्मको जाना वह ब्रह्म ही हो गया। इसी दृष्टिसे इन्द्र कह रहे हैं—'मुझे ही जानो'। यहाँ 'मुझ'का अर्थ जीव इन्द्र नहीं है, ब्रह्म ही है; क्योंकि उसीके ज्ञानसे सब अनर्थोंकी निवृत्ति होती है।

अपनेसे भिन्नके रूपमें? पूर्वपक्षीने इस सन्देहके निराकरणके लिए अपना पक्ष इस प्रकार उपस्थित किया—ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है। जीव अल्पशक्ति है, ईश्वर सर्वशक्ति है, अतः अपनेसे भिन्नरूपमें ही ग्रहण करना चाहिए। 'तत्त्वमसि' आदिमें जो अभेद-श्रवण है वह गौण है—इस पूर्वपक्षका खण्डन करनेके लिए यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। **त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि**। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अनुसार महात्मागण अभेदसे ही ब्रह्मानुभूति करते हैं और श्वेतकेतु आदि तत्त्वजिज्ञासुओंको अभेदसे ही बोध कराते हैं। इसलिए उपासना और ज्ञान दोनों ही अभेददृष्टिसे होते हैं। उपासना भेद होनेपर भी अभेद-दृष्टिसे की जा सकती है, यह ठीक है, तथापि उपनिषदों और सूत्रोंमें इसकी ठीक-ठीक व्यवस्था की गयी है। इसलिए अभेद वास्तविक ही है। यदि परमात्माकी उपासनामें भी भेदको वास्तविक मान लिया जाय तो वाक्‌में धेनु-बुद्धिमें उपासना करनेके समान परमात्माकी उपासना भी असद्-विषयक उपासना हो जायगी।

संपद्याविर्भाव सूत्र :

छान्दोग्य-उपनिषद् (८.१२.३) में यह कहा गया है कि यह आत्मा इस शरीरसे निकलकर परमज्योतिसे एक होकर अपने स्वरूपरूपसे निष्पन्न होता है। इसपर यह संशय उठाया गया कि यहाँ कोई आगन्तुक रूप-विशेषकी प्राप्ति विवक्षित है अथवा आत्ममात्र-स्वस्वरूप? पूर्वपक्षका कहना है कि किसी आगन्तुक रूपको प्राप्ति होती है; क्योंकि मोक्ष भी एक फल है और अभिनिष्पत्तिका अर्थ उत्पत्ति है। स्वरूप तो अपना है ही, यहाँ कुछ फल मिला है, वह नया है। इस शंकाका समाधान करनेके लिए चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादमें पहला 'सम्पद्याविर्भावाधिकरण' है। इसका अभिप्राय है कि मुक्त जीव तत्त्वज्ञानके द्वारा परमज्योतिको प्राप्त होकर स्वरूप-रूपसे प्रकट होता है। अभिप्राय यह हुआ कि मोक्ष अपना स्वरूप ही है। वह कोई आगन्तुक रूप नहीं है। स्वका अर्थ स्वीय नहीं है; क्योंकि वैसा कहना व्यर्थ है। वह किसी भी रूपमें हो, स्वीय तो रहेगा ही। स्व कहनेका अर्थ यह है कि वहाँ केवल आत्ममात्र ही रहता है, आगन्तुक कुछ नहीं। इस मन्त्रमें परज्योतिका अर्थ भी आत्मा ही है, भौतिक-ज्योतिका निषेध करनेके लिए। सूत्र ही है—'आत्मा प्रकरणात्' (४.४.३)। यह आत्माका ही प्रकरण है; क्योंकि इसमें आत्माको अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु कहा गया है। यदि इसपर कोई यह शंका करे कि मुक्त आत्मा भी परमात्मासे भिन्न ही रहता है तो उसके लिए सूत्र है—'अविभागेन

दृष्टत्वात्' (४.४.४)। यह पूर्वपक्षीके इस आक्षेपका उत्तर है कि परमज्योतिको प्राप्त करनेवाला कोई और है तथा प्राप्त होनेवाली ज्योति कोई और; क्योंकि प्राप्तिका कर्ता और प्राप्तिका कर्म दोनों पृथक्-पृथक् होते हैं। सूत्रका अर्थ है कि आत्मा और परमात्मा अविभक्त ही देखा गया है। 'देखा गया'का अर्थ है कि ऐसी श्रुति है—**तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि।** 'तत्क्रतु-न्याय' से दर्शनके अनुसार ही फल मिलता है। शुद्ध जलमें शुद्ध जल मिल गया। यह दृष्टान्त देकर श्रुति इसीको युक्तियुक्त बताती है।

जो लोग इस छान्दोग्य-श्रुतिका ऐसा अर्थ करते हैं कि मुक्त पुरुष परमात्माके शरीरके रूपमें उसका प्रकार होकर स्थित होता है, उनके अर्थमें अध्याहारकी अपेक्षा है। संसार-दशामें भी जीव, ईश्वर-शरीरका एक प्रकार ही है। अतः विशेष-निर्देशकी अपेक्षा है।

प्रकृतिश्च सूत्र :

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् (१.४.२३)। प्रकृति अर्थात् उपादानकारण भी ब्रह्म ही है, निमित्तकारण तो है ही; क्योंकि इसीसे एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा पूरी होती है। मृत्पिण्ड आदिके दृष्टान्त भी साथक होते हैं। ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादान न माननेके कारण प्रतिज्ञा और दृष्टान्त—दोनोंकी हानि हो जायगी। इसीसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म प्रपञ्चका विवर्तोपादान है। ऐसी दशामें प्रपञ्चका मिथ्यात्व स्वतःसिद्ध हो जाता है। ब्रह्मका ही एक नाम प्रकृति है—यह कहनेका तात्पर्य कदापि यह नहीं कि वह परिणामी उपादान है; क्योंकि ऐसा मानना मूल सूत्रके ही विरुद्ध पड़ेगा। **कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा** (२.१.२६)। यदि जगत्को ब्रह्मका परिणाम माने तो जगत्से पृथक् ब्रह्म-नामकी कोई वस्तु नहीं रह जायगी। सम्पूर्ण ब्रह्मको परिणामी मानना होगा। यदि ब्रह्मके एक अंशमें परिणाम माने तो ब्रह्ममें अंश मानना पड़ेगा। अंश मानना श्रुतिके विरुद्ध है; क्योंकि श्रुति ब्रह्मको निष्कल, निष्क्रिय, निरञ्जन कहती है (श्वेता० ६.१९)। 'बाह्याभ्यंतर सब ब्रह्म ही है' (मुण्डक २.१.२)। 'सब अनन्त अपार विज्ञानघन ही है' (बृ० २.४.१२)। 'यह आत्मा अशेष-विशेष-निषेधावधि ब्रह्म ही है' (बृ० ३.९.२६)। 'स्थूलता, अणुता आदि ब्रह्ममें नहीं है' (बृ० ३.८.८)। इन सब श्रुतियोंसे सिद्ध है कि ब्रह्मके एकदेशका परिणाम सम्भव नहीं है। फिर सम्पूर्ण ब्रह्मका परिणाम माननेपर तो ब्रह्मका मूलोच्छेद ही हो जायगा। 'द्रष्टव्यः' कहना निरर्थक हो जायगा। कारण यह है कि कार्य तो बिना

किसी साधनके ही दृष्ट है और कार्यातिरिक्त ब्रह्म रहा ही नहीं। ब्रह्मको सावयव माननेपर निरवयवत्व प्रतिपादक श्रुतिके विरुद्ध हो जायगा। इस प्रकार सांख्य और योग द्वारा मानी हुई पृथक् प्रकृतिका निषेध हो जाता है।

यदि नैयायिक-पक्षको स्वीकार करके ब्रह्मको केवल आरम्भक कारण (कुम्हारके समान घड़ा बनानेवाला निमित्त कारण) माना जाय तो प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों ही असंगत हो जाते हैं; क्योंकि श्रुतिमें एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा है—जिसके विज्ञानसे अदृष्ट, अश्रुत एवं अविज्ञात भी दृष्ट, श्रुत तथा विज्ञात हो जाते हैं। दृष्टान्तमें कहा गया है—मृत्पिण्डके विज्ञानसे निखिल मृण्मयका विज्ञान। आरम्भवादमें इन दोनोंकी संगति नहीं लग सकती; क्योंकि न्यायमतमें कारणकी अपेक्षा कार्य अत्यन्त भिन्न है। आरम्भवादमें कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान नहीं माना जाता।

इस सम्बन्धमें कुछ पूर्वपक्षियोंके मतोंका विमर्श करना भी आवश्यक है। किसी-किसीका कहना है कि जो अपृथक्सिद्ध रहकर विकारका आश्रय हो, वह उपादान है। ब्रह्म तो निर्विकार ही है। उनका कहना है कि इन दोनों बातोंकी संगति लगानेके लिए सूक्ष्म अचित्से विशिष्ट ब्रह्मको जगत्का उपादान मानना चाहिए। वही सूक्ष्म अचित् अंश जगत्के रूपसे परिणत होता है। अतः सूक्ष्म अचित् ही विकारी है, ब्रह्म नहीं। मृत्तिका आदिसे घट आदिकी उत्पत्ति कोई दूसरी वस्तु नहीं है। वस्तुतः अपने उपादानका ही अवस्थान्तर है। इस प्रकार त्र्यणुकसे ही कार्य और अवस्था-भेद प्रारम्भ होते हैं, उसके पूर्व नहीं।

इस पूर्वपक्षपर कुछ विचार करना है; क्योंकि पूर्वोक्त मतमें प्रकृति अंश ही उपादान है, ब्रह्म नहीं। केवल विशेष्यमात्र होनेसे मुख्य उपादानत्व-का निर्वाह नहीं होता। एक दूसरी आपत्ति यह होगी कि सृष्टिके प्रसंगमें जहाँ-जहाँ आत्मा, ब्रह्म आदि मूल-तत्त्ववाचक पदोंका प्रयोग किया गया है, वहाँ लक्षणासे प्रकृतिविशिष्ट ब्रह्मका ग्रहण करना ही अनिवार्य हो जायगा। कोई भी प्रज्ञावान् यह कैसे सोच सकता है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' से प्रारम्भ करके उसीसे आकाशादिकी उत्पत्ति बतानेवाली श्रुति शुद्ध आत्मा-का नहीं, निर्विकार ब्रह्मका नहीं, विशिष्ट ब्रह्मका वाचक है। लक्षणा करनेपर भी 'उस आत्मा अथवा ब्रह्मसे आकाशकी उत्पत्ति हुई'—इस पंचमी विभक्तिका प्रयोग शुद्ध विशेष्यका ही बोधक हो सकता है, विशेषणरूप प्रकृतिका नहीं।

जो यह कहा जाता है कि प्रकृति साक्षात् जगदाकार परिणामको प्राप्त

होती है, ब्रह्म तो विकाराश्रय प्रकृतिके सम्बन्धसे विकारवत् है, स्वयं नहीं—ऐसा कहना भी युक्तियुक्त नहीं है। 'आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति हुई' यह श्रुतिवचन साक्षात् आत्माको ही जगत्का उपादानकारण प्रकृति बतलाता है। यदि इस वाक्यमें आत्माको ही प्रकृति न माना जाय तो वह निरर्थक हो जायगा; क्योंकि वहाँ आत्मा और आकाशका साक्षात् सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। 'माया प्रकृति है और मायी महेश्वर'—यह श्रुतिवचन मायाको प्रकृति और ईश्वरको उसका आश्रय कहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमेश्वर मायाके द्वारा ही प्रकृति होता है। 'माया' शब्दका प्रयोग करते ही ब्रह्म का उपादानत्व विवर्ती हो जाता है।

यदि यह पक्ष उपस्थित किया जाय कि कार्य उपादानको ही एक दूसरी अवस्था है, तो भी जैसा कि हम सांख्यपक्षमें दोष बताते हैं, वैसा ही इस पक्षमें होगा। यह अवस्थान्तर पहलेसे विद्यमान था, तब हुआ अथवा इसकी अपूर्व उत्पत्ति हुई? यदि पहले था ही तो उत्पत्ति क्या हुई? और यदि पहले नहीं था तो यह अपूर्व कहाँ-से बना? यह तो असत्कार्यवाद हो गया। अतः श्रुति-प्रतिपाद्य ब्रह्मोपादानताके उपपादनके लिए केवल विवर्तवादका ही आश्रय लेना उचित है; अर्थात् अद्वैत ब्रह्ममें जो भी कार्य प्रतीत होता है वह वस्तुतः नहीं है, मिथ्या है और ब्रह्म अद्वैत है। एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाका निर्वाह सांख्यमतके समान किया जाता है कि उपादान और उपादेय एक ही होते हैं। किन्तु सूत्रने स्पष्ट कह दिया कि ऐसा माननेपर सम्पूर्ण ब्रह्म ही परिणामको प्राप्त होकर जगत् बन जायगा और ब्रह्म-नामकी कोई वस्तु नहीं रह जायगी। अतः सांख्यमतके समान व्याख्या करना उचित नहीं है। अद्वैत-मतमें ही इस प्रतिज्ञाको भलीभाँति युक्ति-युक्त सिद्ध किया जा सकता है कि ब्रह्मविज्ञानसे सम्पूर्ण प्रपंचका तत्त्व-विज्ञान हो जाता है। विकार तो अज्ञाननिमित्तक अभिव्यक्ति है, अन्य तत्त्व नहीं है। अज्ञान होना कोई दोष नहीं है; क्योंकि जब विकार मिथ्या है तब विकारका ज्ञान भी मिथ्या ही है, अज्ञान ही है। इसीसे श्रुतिने 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' कहा। विकार कथन-मात्र है। केवल मृत्तिका ही सत्य है।' जिस विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है' इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म विज्ञानसे अभिन्न ज्ञानका विषय है।

किसी-किसी पूर्वपक्षीकी यह आशंका है कि यदि इस दृष्टान्तमें विवर्तवाद अभिप्रेत होता तो शुक्ति-रजतका दृष्टान्त देकर शुक्ति ही सत्य

है—ऐसा कहा जाता, 'मृत्तिका-घटका उल्लेख न होता। किन्तु यह आशंका भी निर्मूल है। यह समझ लेना चाहिए कि मृत्तिका भी घटका विवर्ती उपादान है ही। वस्तुत: घटका उपादान मृत्तिका नहीं है, मृत्तिकावच्छिन्न चैतन्य है। मिट्टीसे बनी हुई कोई वस्तु मिट्टीसे अलग नहीं होती; क्योंकि 'यह मृद्घट है' ऐसी ही प्रतीति होती है। वह मिट्टीसे सर्वथा अभिन्न भी नहीं होता; क्योंकि उससे जलानयन आदि क्रिया और प्रयोजनकी पूर्ति होती है। मृद्घट भिन्नाभिन्न भी नहीं हो सकता; क्योंकि एकत्र भेदाभेद सम्भव नहीं है। इसीको अनिर्वचनीय कहते हैं। **मृत्तिकेत्येव सत्यम्** यह श्रुति यही संकेत देती है। इसका अभिप्राय है कि कार्य मिथ्या है- और विवर्ती उपादान ब्रह्म ही सत्य है।

मिथ्या-परिणाम :

आत्मकृतेः परिणामात् (१.४.२६) प्रकृति ब्रह्मका ही एक नाम है। इसका यह कारण है कि **तदात्मानं स्वयमकुरुत** (तैत्ति० २.७) में आत्मा स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही कर्म है—ऐसा कहा गया है। 'आत्मा' शब्द कर्मवाचक है और 'अकुरुत' यह क्रियापद कर्ताका वाचक है। जो पहले था, उसने अपनेको फिर क्यों बनाया ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि यह सब आत्माका ही परिणाम है। 'स्वयं' शब्दका अर्थ है कि दूसरे किसी सहायककी अपेक्षा नहीं है। ऐसी अनेक श्रुतियाँ हैं जो ब्रह्मको ब्रह्मयोनि, भूतयोनि, ऊर्णनाभि आदि शब्दोंसे कहती है। यह बात अनुमानगम्य नहीं है, श्रुतिप्रतिपादित है। इसलिए उसको ज्यों-का-त्यों ग्रहण करना चाहिए। 'वेदान्त-कल्पतरु'में शंकरके पूर्वाचार्य ब्रह्मनन्दीका नाम लेकर कहा गया है कि असत्का परिणाम नहीं हो सकता और उससे किसी प्रयोजनकी पूर्ति भी नहीं हो सकती। सत्का भी परिणाम नहीं हो सकता; क्योंकि वह पहलेसे ही विद्यमान था। इसलिए परिणाम व्यवहारमात्र है और अनिर्वचनीय है। इस सूत्रमें 'परिणाम' शब्दका अर्थ मिथ्यापरिणाम है, वास्तविक परिणाम नहीं। मिथ्या परिणामको ही विवर्त कहते हैं। इसका अर्थ है कि शांकर-सिद्धान्त सम्प्रदाय-परम्परासे प्राप्त औपनिषद अभिप्रायके अनुरूप ही है। 'परिणाम' शब्दको देखकर सांख्यमतका भ्रम करना उचित नहीं है। पूर्वाचार्य मिथ्यापरिणामके अर्थमें भी 'परिणाम' शब्दका प्रयोग करते थे। 'विवर्त' शब्दका प्रयोग आधुनिक है। गौडपादाचार्यने कहा है कि सृष्टिप्रक्रिया चाहे तात्त्विक हो या अतात्त्विक, वर्णन करनेकी रीति तो एक ही होगी। 'नेति नेति'में 'इति' शब्दके द्वारा

सूचित निषेध्य पदार्थका समर्पण करनेके लिए वैसा वर्णन आवश्यक है।

प्रपञ्च ब्रह्मसे अन्य नहीं :

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (२.१.१४) इस सूत्रसे स्पष्टतया साक्षात् अवगम होता है कि प्रपंच मिथ्या है। इस सूत्रके पहले 'भोक्त्रापत्तेः०' सूत्र है। उसका यह अभिप्राय कहा यह गया है कि ब्रह्मरूप उपादानसे उत्पन्न होनेके कारण जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है। 'तत्त्वमसि' इस श्रुतिवचनके अनुसार जीव भी ब्रह्मसे अभिन्न हैं। ऐसी स्थितमें एक वस्तु ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण जीव-जगत् भी परस्पर अभिन्न हैं—**तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्** यह नियम है। इस नियमके अनुसार भोग्य भोक्ता हो जायगा और भोक्ता भोग्य हो जायगा। इस आपत्तिके समाधानके लिए भोक्ता और भोग्यका भेद लौकिक दृष्टिसे सिद्ध किया गया। फेन, तरङ्गादिमें समुद्रजन्यताके कारण समुद्ररूपसे परस्पर अभेद ही है। लौकिक दृष्टिसे तरङ्ग और फेन आदि पृथक्-पृथक् हैं। सच पूछिये तो यह समाधान भेदग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणोंको स्वीकार करके ही किया गया है। फेन-तरङ्गादिके रूपसे उनमें भेद है, पर समुद्ररूपसे भेद नहीं है—यही उनकी संगति है।

इसके बाद 'तदनन्यत्वम्०' यह सूत्र प्रारम्भ हुआ। इसका कहना है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण तत्त्वबोधक नहीं हैं, वे केवल व्यवहारके ही साधक हैं। इस सूत्रका अभिप्राय यह है। 'आरम्भणशब्दादि' इस सूत्रांशसे श्रुतिरूप प्रमाणके द्वारा यह बात कही जा रही है, प्रत्यक्षादि प्रमाणके द्वारा नहीं। श्रुतिका स्वारस्य प्रपंचके मिथ्यात्वमें ही है, इसलिए इस प्रसंगमें 'अनन्यत्व' पदका अर्थ 'मिथ्यात्व' ही है। यहाँ 'अनन्य' शब्दका अर्थ 'अभेद' नहीं किया जा सकता; क्योंकि अभेद विवक्षित होनेपर पूर्ववत् 'अविभाग' शब्दका प्रयोग किया जाता। अतः प्रपंचमात्र ब्रह्मसे अनन्य है। यदि ब्रह्ममें केवल भेदका अभाव ही कहा जाता तो भेदसे भिन्न वस्तुओंका भाव सिद्ध होता। इस आशंकाको निवृत्त करनेके लिए ही 'अनन्य' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्ममें न कार्य है और न कार्यका अभाव। अतः कार्य मिथ्या है। जीव ब्रह्म से अभिन्न है। इस प्रकार जीवगत ब्रह्मभेदका निषेध कर देनेपर ब्रह्मसे अतिरिक्त सभी प्रपंचके मिथ्यात्वकी सिद्धि हो जाती है।

इस सम्बन्धमें यह विवेक ध्यान देने योग्य है—जड़ स्वरूपसे भी मिथ्या है और तद्गत भेद भी मिथ्या है, परन्तु चैतन्य स्वरूपतः ब्रह्म है, उसका भेदमात्र ही मिथ्या है। यही प्रपञ्च-भेद और जीवभेदके मिथ्यात्वमें अन्तर है। 'तदनन्यत्वम्'का एक अर्थ यह भी

है—तत् अर्थात् ब्रह्मसे अनन्य हैं, अन्यत्वशून्य है, अद्वय है। इससे भी यही निकला कि प्रपञ्च मिथ्या है। 'आरम्भण' शब्द श्रुतिका प्रतीक है और वह स्पष्ट कहता है कि विकार नाममात्र है। सूत्रगत 'आदि' शब्द भी श्रुतिसे अतिरिक्त रीतिसे भी प्रपंच मिथ्या है—इस अर्थका वोधक है। इसका अभिप्राय यह है कि द्रष्टा और दृश्यका सम्वन्ध अनिर्वचनीय होनेके कारण भी युक्तिप्रमाणसे प्रपंचका मिथ्यात्व सिद्ध होता है। उक्त श्रुतिमें यह स्पष्ट कहा गया है कि घटादि विकार केवल वाणीसे व्यवहार्य नाममात्र हैं। मृत्तिकासे पृथक् उनके भेद या अभेदका निरूपण नहीं किया जा सकता। देखिये तो सही, यदि वे अपने कारण मृत्तिका आदिसे भिन्न हों तो सत्कार्यवादकी हानि होती है और अभिन्न हों तो कारकव्यापार चक्र, दण्ड, सूत्र आदिका प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। भेदाभेद परस्पर विरुद्ध हैं; इसलिए ये दोनों एकत्र नहीं रह सकते। अतः कार्य मिथ्या ही है।

प्रपंच मिथ्या है :

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि (२. १. २८) यह सूत्र भी प्रपंचको मिथ्या सिद्ध करता है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि यदि जगत्को ब्रह्मका वास्तविक कार्य माना जाय तो सम्पूर्ण ब्रह्म परिणत होकर जगत् ही हो जायगा, ब्रह्म-नामकी कोई वस्तु रहेगी नहीं। यदि उसके एक अंशमें जगदाकार परिणाम माना जाय तो श्रुत्युक्त 'निरवयव' शब्द असंगत हो जायगा। इन दोनों दोषोंका परिहार करनेके लिए **श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्** (२. १. २७) यह सूत्र कहा गया। इसका अभिप्राय यह है कि श्रुति ही ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण बताती है और साथ ही निरवयव भी कहती है। ऐसी स्थितिमें हम कोई प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणका आश्रय लेकर नहीं कहते, फिर हम श्रुतिका उल्लंघन कैसे कर सकते हैं ? तब ब्रह्ममें यह सृष्टि क्या है ? इस आक्षेपका समाधान करनेके लिए अठाईसवाँ सूत्र प्रवृत्त हुआ है। श्रुति अनुल्लंघ्य है, सर्वहितैषिणी है। वह परस्पर विरुद्ध वचन नहीं बोलती। सूत्रका अर्थ यह है कि जैसे स्वप्नद्रष्टा आत्मा अपने स्वरूपमें किसी प्रकारके परिवर्तनके विना ही नाना प्रकारकी प्रपंचसृष्टि देखता है, वैसे ही यह ब्रह्ममें व्यावहारिक प्रपंचसृष्टि दीख रही है। कार्यका कारणके साथ एक अनिर्वचनीय आध्यासिक सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। इससे ब्रह्मकी विवर्तोपादानता सिद्ध होती है। इसको शास्त्रीय भाषामें इस प्रकार कहा जाता है—

तादृशतादात्म्य - संबन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्य-सबन्धावच्छिन्नकारणत्वं विवर्तो-

पादानत्वम्। यह विवर्तोपादानता क्या है? अनिर्वचनीय एवं आध्यासिक तादात्म्य संवन्धसे अवच्छिन्न कार्यताके द्वारा निरूपित तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्न कारणता ही विवर्तोपादानता है। विवर्तोपादानताकी मुख्य बात यह है कि कार्यताका प्रतीति होनेपर भी उपादानके निज स्वरूपमें कोई ह्रास-विकास नहीं होता, वह ज्यों-का-त्यों अनुपमर्दित ही रहता है। 'न तत्र रथाः न रथयोगाः न पन्थानो भवन्ति' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति (४.३.१०) इसमें प्रमाण है। दैवी-सृष्टि अथवा माया-सृष्टि भी अपने उपादानका उपमर्दन नहीं करती, परन्तु उसमें विचित्र हाथी-घोड़ा आदि दिखायी पड़ते हैं। यदि यह शंका की जाय कि शुद्ध ब्रह्मका कार्योत्पत्तिके अधिकरण ब्रह्ममें किसीके साथ तादात्म्यसंवन्ध कैसे हो सकता है? तो इसका समाधान यह है कि कार्योत्पत्तिसे अव्यवहित पूर्व-क्षणमें उपहित ब्रह्ममें शुद्धका तादात्म्य है। विशिष्ट और शुद्धका तादात्म्य वेदान्तसम्मत है। इस प्रकार स्वप्न-दृष्टान्तके द्वारा जाग्रत्-सृष्टिका मिथ्यात्व सिद्ध होता है। अनुमानका स्वरूप यह है कि प्रपंच मिथ्या है, दृश्य होनेके कारण, स्वप्न प्रपंचके समान।

दृश्य होनेसे भी प्रपञ्च मिथ्या :

भावे चोपलब्धेः (२.१.१५) अन्य भावसे निर्मुक्त ब्रह्ममें ही इस प्रपञ्चकी उपलब्धि हो रही है। इस प्रकारकी उपलब्धि दृश्य होनेके कारण मिथ्या होती है। इसका अभिप्राय है कि दृश्याभावके अधिकरणमें दृश्यरूपसे प्रतीत होनेके कारण मिथ्या है।

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् यह सूत्र भी स्वप्न-प्रपञ्चका मिथ्यात्व वर्णन करता हुआ अपने दृष्टान्त द्वारा जागरित प्रपञ्चको भी मिथ्या सिद्ध करनेके अनुमान में काम आता है; क्योंकि दृष्टान्तका समर्थक है। सूत्रका अभिप्राय यह है कि स्वप्नकी सभी वस्तुएँ मायामात्र होती हैं; क्योंकि उनकी सत्ता प्रतिभास-कालमात्रमें रहती है उनके देश-काल आदि भी अप्रामाणिक होते हैं। किसी-किसीने माया-शब्दको आश्चर्यवाचक माना है। जैसे : परम सुन्दरी जनकनन्दिनी देवमायाके समान आश्चर्यजनक हैं। इसी प्रकार 'जीव सत्यसंकल्पादि अपने गुणोंको स्वप्न-दशामें प्रकट करता है'—इसका अभि-प्राय यह है कि जीव सृष्टि नहीं बना सकता, ईश्वर ही स्वाप्निक पदार्थोंकी सृष्टि करता है। किन्तु इस अर्थमें सबसे बड़ा दोष यह है कि यहाँ 'माया' शब्दका प्रयोग अतात्त्विक जादूगरके द्वारा निर्मित पदार्थोंके सम्बन्धमें किया गया है और वह 'माया' शब्दका ठीक-ठीक अर्थ नहीं है। 'आश्चर्य' अर्थ करनेपर भी 'क्यों आश्चर्य है?' इसका विवेचन तो करना ही पड़ेगा।

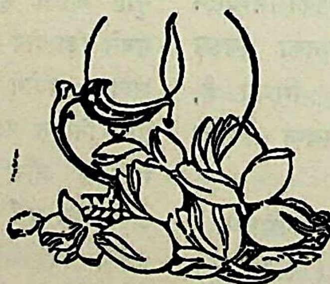
जो वस्तु नियत कारणसे उत्पन्न नहीं होती, वही आश्चर्य है। वैदेहीका लोकोत्तर सौन्दर्य भी एक अघटित घटनारूप होनेके कारण 'देवमाया' शब्दसे उत्प्रेक्षित किया गया है। सच बात तो यह है कि इस सूत्रमें स्वाप्निक पदार्थोंके स्वरूपका ही वर्णन है, जीवके साथ उसका अन्वय नहीं है। परम्परा-सम्बन्ध हेतुताका नियामक नहीं होता।

उत्पन्न होनेसे भी प्रपंच मिथ्या :

'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' (२.३.७)—यह सूत्र सम्पूर्ण प्रपंचको उत्पन्न बतलाता है। सारे ही विभाग विकारके अन्तर्गत हैं अर्थात् विभाग विकारव्याप्य है। अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ विभाग है, वहाँ-वहाँ विकार है। अतः समग्र प्रपंच विकार है। ब्रह्म अविभाग है, निर्विकार है, अतएव भेदशून्य है। ब्रह्मसे उत्पन्न दृश्यमान भेद और भेदशून्यताका निर्वाह ब्रह्ममें केवल मिथ्यारूपसे हो हो सकता है।

सत्से सत् या असत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती :

'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः (२.३.९) सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि यह असम्भव है। प्रश्न यह है कि जब आकाश और वायुका भी जन्म होता है तो सम्भव है, ब्रह्मका भो किसोसे जन्म होता हो ? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म स्वयं सत् है। उसकी किसी दूसरेसे उत्पत्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म सन्मात्र है। वही कारण और कारणाधिपाधिप है। उसका कोई उत्पादक और स्वामी नहीं है' (श्वेता० ६.९), 'असत्से सत्को उत्पत्ति नहीं हो सकती' (छा० ८.७.१)। वस्तुतः वेदान्त-मतमें जगत्का निर्विकार विवर्ती उपादान सच्चिन्मात्र ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म ही अद्वितीय एवं आत्मा है।



भगवान् और धर्मसे बातचीत



अनन्तश्री स्वामी
अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज



एक दिन मैं एक मन्दिरमें गया। पुजारीजी सामने खड़े थे। भगवान् उनके पीछे खड़े थे। मैंने देखा कि भगवान् कुछ उदास हैं। मैंने पूछा : 'प्रभु ! क्या बात है ? चार छः बार आपको भोग लगता है। आरती होती है ?' भगवान् बोले : 'देखो, स्वामीजी ! इस पुजारीने हमको मन्दिरमें कैद कर रखा है। हमको बाहर नहीं जाने देता। स्वयं हमारी ओर पीठ करके खड़ा है। पैसेवालोंकी ओर देखता है।' मैंने पूछा : 'महाराज ! आपके खुश होनेकी कोई तरकीब है ?' भगवन् बोले : 'हाँ ! हमारे खुश होनेकी एक तरकीब है कि हम सिर्फ मन्दिरमें कैद न रहें। हमको बाहर ले चलो और एक-एक आदमीके दिलमें हमको देखो। हर पुरुष, स्त्री, पशु-पक्षी तथा हर जड़-चेतनमें मुझे देखो। सच बात यह है कि जब आप मुझे सबमें देखोगे तो मैं प्रसन्न हो जाऊँगा। किसीसे द्वेष और किसीके साथ नफरत नहीं करोगे तो मैं प्रसन्न हो जाऊँगा।'

एक दिन बहुत आग्रह करके भक्तजन हमको यज्ञशालामें ले गये। यज्ञशाला बहुत सुन्दर बनी हुई थी। ऊँची वेदी, सजे-धजे ब्राह्मण ! देवताओंकी पूजा और हवन हो रहा था। परन्तु जब मेरी धर्मपर नजर गयी तो उनका शरीर धुएँसे काला पड़ गया था और उनकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। मैंने पूछा : 'धर्मजी महाराज ! क्यों रो रहे हैं ? शरीर आपका काला पड़ गया है। आखिर क्यों ? खूब आहुतियाँ पड़ रही हैं और ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ मिल रही हैं।' धर्म बोले : 'महाराज, यज्ञशालामें रहते-रहते अब मैं ऊब गया हूँ। अब मैं चाहता हूँ कि लोगोंके आफिसोंमें जाऊँ, मिलों और दूकानों पर जाऊँ। गृहस्थोंके घरोंमें घूमूँ।

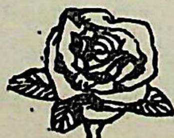
वहाँका भी थोड़ा आनन्द लूँ। क्योंकि यदि मैं (धर्म) आफिसों, मिलों, दूकानों और घरोंमें नहीं जाऊँगा तो यज्ञशालाके अन्दर रहनेवाला धर्म मनुष्यका भला कहाँतक कर सकेगा। मनुष्यका भला करनेके लिए धर्म यज्ञशालासे निकल कर हमारे घरमें, हमारी दूकानमें, हमारी मिलों और दफ्तरोंमें आना चाहिए। आज हम धर्म इसलिए करते हैं कि उससे स्वर्ग मिलेगा। लेकिन धर्म यदि इस दृष्टिसे हमारा भला करे कि मरनेके बाद उससे हमको लाभ होगा तो वह धर्म हमारे आजके जीवनमें टिक नहीं सकता। आज हमको वह धर्म चाहिए जो हमारे जीवनकी समस्याओंको यहीं हल करें। यदि आज धर्म गरीबीको दूर करनेमें मददगार नहीं होगा, यदि आज धर्म पिछड़े लोगोंको साथ नहीं मिलायेगा, यदि आज धर्म मूर्खको पण्डित नहीं बनायेगा, यदि आज धर्म नंगेको कपड़ा और भूखोंको अन्न नहीं देगा, यदि आज धर्म हमारे हितकी वर्तमान समस्याओंको हल नहीं करेगा तो भले ही आप आजके लोगोंको कहो कि ये लोग धर्मभ्रष्ट हो गये हैं। हमारे बच्चे बिगड़ रहे हैं, 'संस्कृति' का नाश हो रहा है, तो भी धर्म उन्नति नहीं करेगा। धर्मकी उन्नतिके लिए आपको उसे यज्ञशालासे बाहर लाना होगा, ताकि वह आजकी समस्याओंको हल करें जिन्हें हल करनेकी उसमें पूरी सामर्थ्य है।

यह भगवान् और धर्मके साथ हुआ हमारा संवाद आपको बहुत बड़ा संदेश देता है। हमारा भगवान् अब हमें मन्दिरोंमें दीखना चाहिए और साथ ही हर प्राणीके रूपमें भी, ताकि हमको विश्वके हर प्राणीसे प्रेम हो जाय :

सिया राममय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

केवल धर्म-धर्मकी दुहाईसे अब काम नहीं चलेगा। अब तो धर्म हमारे जीवनमें आना चाहिए। हमारे घरों, दूकानों, दफ्तरों और मिलोंमें उसकी स्थापना होनी चाहिए,' तभी यह दुराचार, बेईमानी, रिश्वतखोरी, कामचोरी और एक दूसरेके साथ घृणाका अन्त हो सकेगा।

(प्रवचनसे)



'नवभारत टाइम्स' (३० जून)

बुद्धिजीवीका देशद्रोह

[उच्चतम न्यायालयके वरिष्ठ वकील और अनेक टाटा-उद्योगोंके निदेशक श्री पालखीवाला इस समय हेग-स्थित अंतरराष्ट्रीय न्यायालयमें पाकिस्तान द्वारा भारतके विरुद्ध चलाये गये मुकदमे में भारतकी पैरवी कर रहे हैं। पाकिस्तानने यह मुकदमा भारत द्वारा अपने भू-क्षेत्रके ऊपरसे पाक-विमानोंकी उड़ानोंपर लगा दिये गये प्रतिबन्धके विरुद्ध दायर किया है। लेखकने प्रस्तुत लेखमें बुद्धिजीवीके स्पष्ट चिंतनकी क्षमताकी वकालत की है, यानी बुद्धिजीवीको लोकप्रिय और आज 'फेशनेबुल' मानी जानेवाली सिद्धान्त-धाराओंमें वह नहीं जाना चाहिए।]

भारतके प्राचीन इतिहासमें ऐसा तथ्य है जिसे आजके युगमें सामने लानेकी आवश्यकता है, प्राचीन भारतमें राजा-महाराजा और सम्राट् विद्वानोंके चरणोंमें बैठना एक विशेषाधिकार और सम्मानकी बात मानते थे। बुद्धिजीवियों और विद्वानोंको समाजमें शीर्षस्थ स्थान दिया जाता था। राजा जनक, जो स्वयं एक दार्शनिक थे, याज्ञवल्क्यसे राज-काजके सम्बन्धमें विचार-विमर्श करनेके लिए जंगलमें स्थित ऋषिके आश्रम तक पैदल ही गये थे। आठवीं शताब्दीमें शंकराचार्यने केरलसे कश्मीर और द्वारिकासे पुरी तककी यात्रा पैदल ही की थी। अगर उस युगमें बुद्धिजीवियोंको इतना अधिक सम्मान और आदर प्राप्त न हुआ होता, तो वह न तो मनुष्योंके मस्तिष्कको परिवर्तित कर सकते थे और न देशके दूरस्थ कोनोंमें ज्ञानपीठ-की स्थापना ही कर सकते थे।

दुर्भाग्यसे आज हमने बुद्धि-जीवीका पद काफी नीचे कर दिया है। सच तो यह है कि हमने आज इस

श्री नानी ए. पालखीवाला

शब्दका अवमूल्यन ही कर दिया है। आज तो 'बुद्धिजीवी'का अर्थ एक ऐसा व्यक्ति ही रह गया है जो इतना चतुर हो कि यह पता लगा ले कि उसकी रोटीके किस ओर मक्खन लगा हुआ है?

शिक्षाको सभ्यता-संप्रेषणकी एक तकनीक कहा गया है। सभ्यताके

संप्रेषणके लिए उसे दो प्रमुख कार्य करने होते हैं : १. वह समझदारी (अंडर-स्टैंडिंग) में सुधार करती है और २. चरित्रको समृद्ध करती है। वास्तवमें एक सुशिक्षित व्यक्तिकी यह पहचान है कि वह स्पष्टताके साथ सोचने-समझने और बौद्धिक जिज्ञासा रखनेमें समर्थ हो।

परीक्षणकी ज़रूरत

१८वीं शताब्दीमें डीन स्विफ्टने कहा था कि मनुष्योंकी बहुसंख्या उड़नेके लिए भी उतनी ही योग्य है जितनी सोचनेकी प्रविधिने मनुष्यका उड़ना, और अगर उड़ना नहीं तो एक ऐसे यन्त्रमें बैठना तो सम्भव कर ही दिया है जो उड़ता है। लेकिन स्पष्टताके साथ सोचनेकी क्षमताको हमें इस योग्य तो बना ही देना चाहिए कि संचार-माध्यमोंसे हमारे ऊपर जो विचार या विचारधाराएँ बरसायी जाती हैं, हम उनकी जाँच-पड़ताल और छानबीन कर सकें और आवश्यक होने पर उन्हें अस्वीकार कर सकें। वह हमें यह एहसास करानेमें समर्थ होनी चाहिए कि ये लोकमाध्यम एक ऐसी शृङ्खला हैं जिनका उद्देश्य उपभोक्ता वस्तुओंकी विक्रीका मूर्खतापूर्ण और संकीर्ण हित-साधन करना है तथा संकीर्ण और दमघोटू राजनीतिका भी हित-साधन करना है। एक उदार शिक्षा लोक-माध्यमों द्वारा चालू रखे जानेवाले आधुनिक 'यन्त्रों' की बिना सोचे-समझे स्वीकृतिके विरुद्ध निरोधका काम करती है।

अगर आपने स्पष्टतः सोचनेकी क्षमता प्राप्त कर ली है तो आप लोकप्रिय सिद्धान्त-धाराओंकी तरफ दीवानोंकी तरह नहीं लपकेंगे और फ़ैशनेबुल रामबाणोंके प्रति भी आपका रवैया आलोचनात्मक ही होगा। यह तो सही है कि लोकतन्त्रमें बहुमतकी बात मानी जानी चाहिए, लेकिन हमें यह सोचनेकी गलती नहीं करनी चाहिए कि किसी प्रतिज्ञप्तिकी वैधता या किसी सिद्धान्तका सहीपन उसमें विश्वास रखनेवाले लोगोंकी संख्या पर निर्भर करता है।

बौद्धिक जिज्ञासा छात्रको विश्व-विद्यालयके आरामदेह कोटरसे निकालकर जीवनकी चिलचिलाती धूपमें आ जानेपर ज्ञानार्जनकी प्रक्रियाको तेज करनेकी क्षमता प्रदान करेगी। गत शताब्दियोंमें मनुष्यने कला और ज्ञानका एक भण्डार बनाया है, पर एक सभी प्रकारसे जागरूक और प्रबुद्ध मस्तिष्क भी उतना ही विरल होता है जितना कि पूरी तरह जिया हुआ जीवन।

आइये, अब शिक्षाके दूसरे कार्य चरित्रको समृद्ध बनाने पर सोच लें। आज हमें सबसे अधिक जरूरत तो एक ऐसे नैतिक नेतृत्वकी ही है जो साहस, बौद्धिक सत्यनिष्ठा

और मूल्योंकी चेतनापर आधारित हो।

सर जेम्स वेरीने एक प्रख्यात स्काटिश विश्वविद्यालयमें कहा था : 'साहस कुछ भी कर दिखा सकता है।' लेकिन हम चारों ओरसे ऐसे लोगोंसे घिरे हैं जो समझौता कर लेने और अवसरवादितासे काम लेनेके इच्छुक हैं। हमारे बीच 'रीढ़-हीन चमत्कारों' की कोई कमी नहीं है। ऐसे लोगोंके लिए स्वार्थसिद्धि ही सब कुछ होती है। जिस व्यक्तिमें कभी भी समझौता न करने या घुटने न टेकनेका साहस है, वह खिसकती हुई बालूके बीच एक अडिग चट्टानकी तरह है।

भारतमें आज बहुत-सी चीजोंका अभाव है, लेकिन बौद्धिक सत्यनिष्ठाका तो जैसे अकाल ही पड़ गया है। बुद्धिजीवीका देशद्रोह या विश्वासघात यह है कि वह जिन चीजोंको पावन मानता है या जिनमें उसकी आस्था है, उनके बारेमें पूरे स्वरसे दो टूक लफ्जोंमें नहीं कहता। आज इस बातकी आवश्यकता है कि वह साहसके साथ खड़ा होकर उस मतके पक्षमें आवाज बुलन्द करे, जिसके अधिक समर्थक नहीं हैं। बहती धाराके साथ तो सभी तैर लेते हैं।

मूल्य-चेतना

मूल्य-चेतनाका कोई विकल्प नहीं हो सकता, जैसा कि आइन्स्टाईनने कहा था : 'यह आवश्यक है कि विद्यार्थी मूल्योंके सम्बन्धमें एक समझदारी प्राप्त करे और उनके प्रति एक जीवन्त भावना रखे। उसे सुन्दर और नैतिक दृष्टिसे सही चीजोंके प्रति एक सजीव चेतना अर्जित करनी चाहिए। ऐसा न हुआ तो कहना होगा कि वह अपने मनुष्यताको सोचना सम्भव नहीं बना पायी है।

विशिष्ट ज्ञानके साथ समताल रूपसे विकसित व्यक्तिके बजाय एक सुप्रशिक्षित कुत्ता ही अधिक दिखायी देगा।'

कोई राष्ट्र अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादनके बलपर ही जीवित नहीं रह सकता। जीवनकी गुणवत्ता कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे जैसे एक स्वतन्त्र लोकतन्त्रमें जीवनकी गुणवत्ता बहुत हदतक मूल मानवीय अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रताओंकी प्राप्तिसे निर्धारित होती है। हमारे संविधान-निर्माता अत्यधिक बुद्धिमान् थे। उन्होंने संविधानमें मूलभूत अधिकारोंका अध्याय रखा था, क्योंकि इन अधिकारोंके बिना तो जीवनकी गुणवत्ता भयावह रूपसे क्षीण हो जाती। हमारी जीनेके स्तरको ऊँचा उठानेके लिए प्रयत्न करते रहना ठीक ही है, लेकिन अधिक महत्त्वपूर्ण तो जीवन-स्तर है। अगर हम जीवनकी गुणवत्ताके प्रति संवेदनशून्य हो जाते हैं, तो इसका केवल यही अर्थ होगा कि हमारा ज्ञान तो बढ़ेगा, लेकिन अज्ञान कम नहीं होगा। ●

श्रम या धर्म



वस्तु-शिक्षा और धर्मशिक्षामें कुछ अन्तर होता है। पहली, विज्ञानकी प्रधानतासे होती है और वह यान्त्रिक विज्ञानकी कसौटीपर निरीक्षण करके प्रत्यक्ष प्रमाणित की जा सकती है। बाह्य वस्तुमें परिवर्तन करना या उसपर आधिपत्य प्राप्त करके उसे लोकोपयोगी बनाना विज्ञानका काम है। वह श्रमको सफल करता है और दिशा भी देता है। धर्मका क्षेत्र इससे भिन्न है। वह हृदयमें शोधन, परिवर्तन अथवा विशेषका आधान करनेके लिए है। धर्ममें इतनी सामर्थ्य है कि वह अन्तःकरणको निर्वासन बना दे, ईश्वराकार बना दे, समाधि लगा दे अथवा परम सत्यसे अभिन्न स्थिति प्राप्त करा दे। श्रम बाह्य-वस्तुप्रधान होता है तो धर्म आन्तर-वस्तुप्रधान। इसलिए धर्म-शिक्षामें केवल बाह्य-वस्तु-विज्ञान, यान्त्रिक परीक्षण-निरीक्षणकी प्रधानता अथवा प्रबल तर्क-युक्तियोंका बल काम नहीं दे सकते; क्योंकि धर्मकी रासायनिक परिणति यन्त्रके द्वारा नहीं दिखायी जा सकती, कम-से-कम तत्काल। अतः धर्मकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए प्रारम्भमें थोड़ी-सी श्रद्धाकी अपेक्षा होती है। श्रद्धासे धर्म-रसकी उत्पत्ति होती है। यह रस ही कर्तव्यके प्रति उत्साह, लगन, निष्ठा और लक्ष्यकी प्राप्तिमें प्रेरणका उद्गम होता है।

(म० श्री०)

सन्त चोखामेला

श्री यशवन्त बळवन्त क्षीरसागर, बम्बई

सम्पादक : 'बालविकास'

वर्षतु सकल मंडळी । ईश्वरनिष्ठांची मांदियळी ।
अनवरत भूमण्डळी । भेटतु भूता ॥
—ज्ञानेश्वरी

'इस भूमण्डलमें ईश्वरनिष्ठ महात्माओंका खूब अवतरण हो और उनका सत्संग समस्त प्राणिमात्रको हमेशा मिले' यह प्रार्थना-पूर्ण निवेदन श्री ज्ञानेश्वरजी महाराजने ज्ञानेश्वरीके उपसंहारमें विश्वात्मा भगवान्‌के चरणोंमें किया है। श्री ज्ञानेश्वरजीका दृढ संकल्प और परमात्माकी असीम करुणासे मानो यह प्रार्थना सफल हो गयी और ज्ञानेश्वरजीके जीवनकालमें और पश्चात् महान् प्रभावशाली सन्तोंकी झड़ी महाराष्ट्र-भूमिमें लगी। स्थान-स्थानपर और जाति-जातिमें श्री पंढरीनाथके लाड़ले भक्त अपना सब कुछ न्योछावर करके भगवद्-ध्यान करने लगे। इन सन्तोंने पंढरीनाथका यश और कीर्ति चारों ओर फैलायी।

इसी कालमें प्रसारित हुआ 'वारकरी-सम्प्रदाय' भागवत-धर्मका ही आविष्कार था। इस सम्प्रदायमें जातिभेद अथवा ऊँच-नीचपन नहीं माना जाता। वारकरी-सम्प्रदायके महान् अध्वर्यु श्री तुकाराम महाराज कहते हैं—

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ।
चांडाळा आहे अधिकार ॥
बाले, नारी, नर ।
आदि करोनि वेश्याहि ॥

'भगवान्‌को ब्राह्मण, क्षत्रियादि क्या, बल्कि बच्चे और गणिका भी भज सकती है।'

अतिशूद्र-जातिमें जन्म लेकर अपना जीवन भगवद्भक्तिसे मधुरतम बनानेवाले प्रथम सन्तके नाते श्री चोखामेलाजीका शुभनाम महाराष्ट्रके इतिहासमें अमर हो गया है।

श्री चोखामेलाजीका जन्म 'महार' जातिमें हुआ था। सात सौ साल पूर्व यह जाति किस शोचनीय परिस्थितिमें रहती होगी—इसकी कल्पना हम आज शायद नहीं कर सकेंगे। गाय, बैल, घोड़े आदि मृत

ढोरोंको गाँवसे हटाना तथा उन्हें चीरकर उनकी व्यवस्था करना इनका काम था। वे गाँवसे दूर रहते थे। गाँवकी गन्दगी दूर करना, गन्दे-फटे कपड़े पहनना, जूठा अन्न ग्रहण करना ही इनका जीवन था। जीवनमें न कभी सुख-शान्ति थी और न कुछ संस्कार!

इस पार्श्वभूमिपर जब चोखामेलाजीका सुन्दर, निर्मल और प्रभु-शरण जीवन हम देखते हैं तब बुद्धि अवाक् हो जाती है। आपके जीवनमें इतनी सरलता और इतना माधुर्य था कि भगवान् पंढरीनाथ अपने आपको भूलकर मन्दिरके बाहर आकर इनसे बार-बार मिलते, इनकी झोपड़ीमें पधारकर बातचीत करते, खाते-पीते और (एक जगह यह भी कथा मिलती है कि) मृत ढोर खींचनेमें उन्हें मदद भी करते थे।

श्री चोखामेलाजी स्वयं अकेले ही भक्त नहीं थे। उनकी श्रीमतीजी **सोयराबाई**, सुपुत्र **कर्ममेला**, बहन **निर्मला** और बहनोई तथा प्रिय शिष्य **बंका महार** भी पंढरीनाथके भक्त थे। इन सभीके रचे हुए अभंग पढ़कर अन्तःकरण आश्चर्यमें डूब जाता है।

कालदृष्टिसे श्री चोखामेलाजी ज्ञानेश्वरजीके समकालीन थे। गुरु-परम्परासे देखें तो श्री ज्ञानेश्वरजी, श्री बिसोबा खेचर, श्री नामदेवजी और उनके शिष्य चोखामेलाजी—यह उनकी उज्ज्वल परम्परा थी।

चोखामेलाजीके प्रायः साढ़े तीन सौ अभंग आज उपलब्ध हैं। श्री नामदेवादि सन्तोंने इनके बारेमें की हुई रचनाएँ भी मिलती हैं। इन सभीसे एक बात स्पष्ट होती है कि इस महान् सन्तका लौकिक तथा भाव-जीवन मधुर रसका एक खजाना था।

यह मधुरता श्री चोखामेलाजीके जीवनमें कहाँसे आयी? परमात्माकी असीम कृपाके बिना तो यह चमत्कार हो नहीं सकता। इसी सम्बन्धमें श्री चोखामेलाजीकी जन्म-कथा पाठकोंके सामने रखना उचित होगा। आजके युगमें यह कथा शायद छोटी मालूम पड़े, लेकिन इसके तात्पर्यमें जीवनका असली सत्य भरा हुआ है।

श्री चोखामेलाजीके पिताजीका नाम था, सुदाम येसकर और माताजीका सावित्रीबाई। दोनों श्री पंढरीनाथके भक्त थे और पंढरपुरके नजदीक ही रहते थे। उन्हें सन्तान नहीं थी। उस समय वहाँके एक पाटीलने एकबार अपने बगीचेसे सवा सौ अच्छे आम श्री पंढरीनाथके चरणोंमें अर्पण करनेका संकल्प किया और उन्हें दो टोकरियोंमें भरकर श्री सुदामा पति-पत्नीको पंढरपुर ले जानेकी आज्ञा की।

यह दम्पती आमकी एक-एक

टोकरी सिरपर रखकर पंढरपुरकी दिशामें चल पड़े। रास्तेमें पंढरीनाथ एक वृद्ध और भूखे ब्राह्मणका रूप लेकर आये और उन्होंने श्री सुदामजीके सामने हाथ फैलाया। लेकिन सुदामजीने उन्हें कुछ नहीं दिया। स्वयं 'महार' होनेसे वे ब्राह्मण देवताको कुछ देनेके अधिकारी नहीं थे, साथ ही साथ वे आम भी उनके स्वयंके नहीं थे। सुदामजीके पीछे सावित्रीबाई आ रही थी। उसने करुणावशात् एक आम उस वृद्ध ब्राह्मणके हाथमें रखा। भूखे ब्राह्मणने उस आमको चखा, लेकिन खट्टा मालूम होनेसे तुरन्त वापस कर दिया। उस जूठे आमको सावित्रीबाई टोकरीमें तो रख नहीं सकती थी। इसलिए उसने वह (चखा) हुआ आम अपने आँचलमें छिपाया और पतिदेवके पीछे चल पड़ी।

पंढरपुरमें जब दोनों टोकरीके आम गिने गये तो एक कम मालूम पड़ा। सावित्रीबाईको स्मरण आया और उसने रास्तेके क्षुधित ब्राह्मणकी घटना निवेदित की। जब उसने आँचलमें देखा तो वहाँ चखा हुआ आम नहीं था! वहाँपर था—एक नन्हा-सा कोमल शिशु, श्री पंढरीनाथके अधरोंसे चुम्बित नन्हा-मुन्ना! हिन्दी-भाषाकी क्रिया **चखना** को मराठी भाषामें **चोखणे** कहा जाता है। श्री पंढरीनाथ द्वारा चखे जानेसे इस बालकका नाम हुआ **चोखामेला**। आज भी सन्त चोखामेलाजीके अनुयायी आमको विशेष पवित्र मानते हैं। श्री चोखामेलाजीके तथा उनके परिवारके जीवनमें जो भगवद्भक्तिका माधुर्य खिला है, उसका मूलस्रोत यही है।

चोखामेलाजीका जन्मस्थान अभी-तक निश्चित नहीं हो पाया है। किन्तु उनका प्रायः समूचा जीवन श्री पंढरीनाथके चरणोंमें पंढरपुर धाममें बीता हुआ था। पंढरपुर और पंढरी ही उनका सार-सर्वस्व था। वे एक अभङ्गमें कहते हैं—

'मैं अनेक देश-देशान्तर भटक आया हूँ। अनेक तीर्थोंके दर्शन किये हैं, अनेक प्रतिमाएँ देखी हैं; लेकिन मेरे मनकी चञ्चलता और पागलपन कहीं नहीं मिटा। मात्र इस भू-वैकुण्ठ पंढरीके दर्शनसे मेरे सभी कष्ट मिट गये हैं।

विट्ठल विट्ठल गजरी।
अवघी दुमदुमली पंढरी।
होतो नामाचा गजर।
दिंड्या-पताकांचे भार।
निवृत्ति ज्ञानदेव सोपान।
अपार वैष्णव ते जाण।
हरिकीर्तनाची दाटी।
तेथे चोखा घाली मिठी॥

"श्री विट्ठल-विट्ठल' शब्दसे पूरा पंढरपुर गूँज उठा है। नामकी गूँज हो रही है। भजनके मेलों और निशानोंकी चारों ओर बाढ़ आयी है। निवृत्ति,

ज्ञानदेव, सोपान आदि सन्त तथा अपार वैष्णव सम्मिलित हो गये हैं। स्थान-स्थानपर हरिकीर्तन चल रहे हैं। इस धामको चोखा आलिङ्गन दे रहा है।

पंढरीचे सुख। नाहीं त्रिभुवनी।
प्रत्यक्ष चक्रपाणी। उभा असे॥
त्रिभुवनी समर्थ। ऐसे पै तीर्थ।
दक्षिण-मुख वहात। चन्द्रभागा॥
सकल सुखाचा मुगुटमणि देखा।
पुंडलिक सखा आहे तेथे।
चोखा म्हणे तेथे सुखाची मिराशी।
भोळया भाविकाशा अखडित॥

'पंढरपुरका सुख त्रिभुवनमें नहीं मिल सकता। साक्षात् चक्रपाणि भगवान् यहाँ खड़े हैं। दक्षिण-मुख वहनेवाली चन्द्रभागा त्रिभुवनमें सर्व-समर्थ तीर्थ है और सकल सन्तोंके मुकुटमणि, सखा पुंडलिक यहाँपर विराजमान हैं। चोखाजी कहते हैं भोले भक्तोंको यह सुखका एक अखण्ड खजाना ही है।'

"पंढरी नामका केवल उच्चारण करनेवालेके घरमें स्वयं मोक्ष आता है और वह व्यक्ति संसार-सागरसे तैर जाता है। 'विठ्ठल' नाम समूचे जगत्को तारनेवाला है" यह पुण्डलिकजीकी प्रतिज्ञा है। सन्तोंने कहा है कि चन्द्रभागामें स्नान, क्षेत्रको (धामको) प्रदक्षिणा और श्री पांडुरंगके महाद्वारमें लोटपोट—सर्व साधनोंका वर्म है और सन्तोंकी यह शिक्षा चोखामेलाजीने हृदयमें धारण कर ली है।'

इस सम्प्रदायके सदस्योंको 'वारकरी' कहते हैं। वारकरी-भक्तका वर्णन श्री चोखामेलाजी करते हैं—

वारी पंढरीची तोचि वारकरी।
दया क्षमा बरी वसे तेथे॥
तोचि माझा जीव प्राणाचा हि प्राण।
जीव ओवाळीन तयावरी॥
आसनी शयनी पंढरीचे ध्यान।
वाचे नारायण जपे सदा॥
चोखा म्हणे माझा तोचि हे सांगाती।
तयाचे संगती देव जोडे॥

'अन्तःकरणमें दया-क्षमा धारण करनेवाला और पंढरपुरमें नियमसे पधारनेवाला वारकरी है। वह मेरा जीव और प्राणोंका भी प्राण है। अपना जीव मैं उसपरसे न्योछावर कर देता हूँ। बैठते, सोते जो पंढरीका ध्यान करता है और जिसके मुखमें सतत नारायण-जप हो रहा है, वही मेरा सब कुछ है। उसीके सहयोगसे भगवान् मिल सकते हैं।'

जिसकी भगवद्धाममें इतनी गहरी निष्ठा है, उसका अपने इष्टके प्रति कितना दिव्यभाव होगा, इसकी कल्पना हम कर सकते हैं। श्री पंढरीनाथका दर्शन लेने और करानेमें चोखामेलाजी स्वयंको भूल जाते हैं। वे कहते हैं—

'वेदोंका मूल, अनादि परब्रह्म दोनों हाथ कटिपर रखकर यहाँ ईंटपर खड़ा है। साक्षात् वैकुण्ठनाथ बालवेष धारण कर गोप, वत्स और वैष्णवोंके

सहित यहाँ विराजमान हैं। मेरा आनन्दघन पंढरीनाथ श्रवणोंका भी श्रवण है, रसनाको मिठास है। इसीको कृपासे वाचा बोलती है, प्राण हिलते हैं और स्वयं आनन्द भी प्रमुदित होता है। हमारे पंढरीनाथ वड़े दयालु हैं और भाविक जनोंका बहुत लाड़-दुलार करते हैं। वे जाति, गोत्र, सम्पत्ति कुछ नहीं देखते। भक्तके कुछ न माँगनेपर भी स्वयंको आभारी समझते और उनको भुक्ति-मुक्ति बाँटते हैं। ब्रह्मादि भी उनकी लीला नहीं जान पाते। कितना सुन्दर है प्रभुका चतुर्भुज रूप—

मज तो नवल वाटतसे जीवीं।
आपुली पदवी विसरले॥
कवणिया सुखा परब्रह्म भुलले।
गुतोनि राहिले भक्तभाके।
निर्गुण होते ते सगुण पै झाले।
विसरोनी राहिले आप-आपणा॥
चोखा ह्मणे कैसा हा नवलाव।
देवाधिदेव वेडावला॥

'मुझे बड़ा आश्चर्य लगता है कि क्या भगवान् अपनी पदवी (महत्ता) भूल तो नहीं गये? ऐसा कौन-सा सुख परब्रह्मको यहाँ मिलता है जिसके लिए वह भक्त-वचनमें फँसकर निर्गुणसे सगुण बना और अपने आपको भूल गया? चोखा कहता है, क्या है यह आश्चर्य! भगवान् कुछ 'पागल' तो नहीं बन गये?'

'भगवान् भक्तको अपना मानकर उसके लिए दौड़ते हैं। अनाथोंकी चिन्ता करते हैं, पतितोंका पाप-ताप, दैन्य दूर करके उन्हें पावन कर रहे हैं। माँकी तरह अपनी छायामें दीनोंको पाल रहे हैं।

'बहुत ग्रन्थ पढनेसे, वेदशास्त्रोंके श्रवणसे, अष्टांग-साधनसे, जपसे, यज्ञसे या देह-दण्डसे जो सुख-समाधान नहीं मिलता, वह सिर्फ श्री विट्ठल भगवान्के दर्शनसे प्राप्त होता है।

ज्याचे वर्णिता पवाडे।
कळिकाळ पाया पडे॥
तो हा पंढरीचा राणा।
रूपे अरूप देखणा॥
वेद जया गातां।
श्रुति ह्मणती नेति नेति॥
भोळ्या भाविकांचा ऋणी।
चोखा ह्मणे माझी धणी॥

जिसका यशोदुन्दुभि सुनकर कलि भी चरणोंमें गिरता है, वेद जिसका गान करते हैं और श्रुतियाँ 'नेति-नेति' कहकर चुप होती है, जो अरूप है और सुन्दर भी वह है—हमारा पंढरीका राजराजेश्वर। लेकिन वह भोले भक्तोंका ऋण सिरपर धारण किये खड़ा है। मेरे आनन्दका तो यह खजाना है।'

काय वाचू तुमचे पवाडे।
तुम्हां पुढे देवराया।
मोठा ठकवाणा मोठा ठकवाणा।
पंढरीचा राणा विठ्ठला तू।
मद्याचिये गोडी लावियेले जगा।
गोवियेले पै गा लिगाडासी।

चोखा ह्मणे देवा नकळे तुमचा भाव।
आमुचा हा जीव पायीं असे ॥

'पंढरीनाथ, मैं आपके सामने आपका क्या यशोगान करूँ? आप बड़े ही ठग मालूम पड़ रहे हैं। (मानो) शराबका नशा चढ़ाकर समूची दुनियाको तुमने मोहमें फँसा दिया है। हम आपकी माया नहीं जान पाते। हमारा जीवन आपके चरणोंमें अर्पण है।

जयासाठी उगाचि आला।
मौन धरोनि राहिला।
जोडोनिया दोन्हीं पाय।
उगाचि मुखाकडे पाहे।
न बोले भिडेने काही।
उभा पाठीसी तो पाहो।
चोखा ह्मणे पहातां सुख।
हारपली तहान-भूक ॥

पंढरीनाथ आये तो भक्तके लिए, लेकिन मौन धारण कर, दोनों चरण समेटकर सिर्फ भक्तकी ओर देख रहे हैं। नाथ संकोची तो इतने हैं कि मुँहसे एक शब्द भी नहीं निकलता। भक्तके पीछे खड़े हैं। चोखा कहता है कि (यह) मुखकमल देखकर मेरी तो भूख-प्यास ही मिट गयी।'

'गोपालोंके साथ जिसने गोकुलमें खेल खेले, गोचारण किया, कभी झूठ भी कहा, गोवर्धन धारण किया, पाण्डवोंका साहाय्य किया वही श्रीहरि पंढरीमें विराजमान हैं। बड़ा भाव-लम्पट होनेसे उसे वैकुण्ठ नहीं भाता, बल्कि यह चन्द्रभागा नदीका पुलिन्द और यह पुण्डलिक-क्षेत्र ही उसे जादा पसन्द है।'

भगवद्दर्शनकी तीव्रता :

सन्त चोखामेलाजीकी भगवद्-दर्शनकी वेदना बहुत तीव्र थी। वे तत्कालीन परिस्थितिके कठोर प्रहार धीरतासे सहते रहे। अपना धर्म उन्होंने कभी छोड़ा नहीं और किसीके विरुद्ध पंढरीनाथसे कभी शिकायत भी की नहीं। अपनी-विरह वेदना वे पंढरीनाथके सामने खुले तौरपर रखते और कभी स्वयं पंढरीनाथ उन्हें समझाते-बुझाते।

श्री चोखामेलाजी गाते हैं—

'मुझे जन्म देकर निष्ठुरतासे छोड़ क्यों रहे हो, भगवन्! आपसे अलगाव करानेवाला यह प्रपञ्च हमारे पीछे लगाया ही क्यों? भरे नेत्रोंसे मैं यहाँ चन्द्रभागाके तटपर खड़ा हूँ। मैं आपकी भक्ति करना नहीं जानता। मुझे सभी जातिहीन कहते हैं, मेरे स्पर्शसे अशुद्ध होते हैं। अगर स्पर्श हुआ तो जलकी छिटें लेते हैं। तो मैं आपकी सेवा कैसी करूँ, भगवन्? सिर्फ आपका नाम ही हमारे पास है।

'मैं तो सन्तोंके दासोंका भी दास हूँ, आपके द्वारका एक कुत्ता हूँ और सिर्फ उच्छिष्टकी आशा रखता हूँ। करुणा करके मुझे आप अपने आंचल सम्हाल लीजिये, नारायण!

'घूम-घूमकर मैं बहुत थक गया हूँ, प्रपञ्चकी दलदलमें फँस गया

हूँ। अब मुझे छुड़ानेवाला, इस जन्म-मरणसे बचानेवाला आपके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। अगर आप मेरी उपेक्षा करेंगे तो आपका 'ब्रीद' ही (प्रतिज्ञा) कलङ्कित होगा।

श्वान अथवा सूकर होका मार्जार।
परी वैष्णवाचे घर देई देवा।
उच्छिष्ट प्रसाद सेवनो घणिवरी।
लोळेन परवरी कवतुकाने।
चोखा ह्मणे कोणी ज्ञाता पंढरीसी।
दण्डवत त्यासि घालीन सुखे॥

'भगवन् ! मुझे अगले जन्ममें श्वान, सूकर अथवा बिल्ली भी बनाओ, लेकिन (इतनी ही प्रार्थना है कि) मुझे किसी वैष्णवके घर रखो, ताकि वहाँ मुझे वैष्णवोंका उच्छिष्ट प्रसाद भरपेट मिले। बड़े आनन्दसे उस भूमिपर मैं लोट-पोट करूँगा और कोई पंढरपुरका यात्री मिला तो उसे खूब प्रेमसे दण्डवत प्रणाम कर सकूँगा।

'तुम तो मेरी प्रेममयी माँ हो! मेरा इतना हठ पूरा करो मैया! मैं कुछ साधन नहीं कर पाता। तुम्हारा नाम भी मेरे मुखमें नहीं आता। मुझे तो काम-क्रोधने लज्जित कर दिया है।

'मैं आपको कितनी बार पुकारूँ भगवन् ! मेरी समूची आशा तो अभी नष्ट हो हो गयी। इससे अधिक न बोलना ही बुद्धिमानी होगी। अभी ऐसा लगता है कि पाषाण होकर आपके द्वारपर पड़ा रहूँ, तो फिर कभी न कभी आपको मेरा स्मरण जरूर होगा ही!'

पाहा लाघवी सूत्रधारी।
कैसी नाचवी धरोनि दोरी॥

'वाह ! पंढरीनाथ कितना चतुर सूत्रधार है। चारों वर्णोंका, चारों वाणियोंको और चौरासी योनियोंको डोरी खींच-खींचकर कैसा नचा रहा है ! मेरे इस पिताके हाथोंमें समूचे त्रिलोकीका वैभव और सत्ता है।'

'मेरा यह शरीर, सुन्दर मुख, ये सुन्दर हाथ-पाँव सब व्यर्थ जा रहे हैं भगवन्। आप ही केवल हमारे हैं। मेरा मन सिर्फ एकबारके लिए शान्त कीजियेगा। फिर तो मैं आपके चरणोंका स्मरण करके (चिरकाल) सुखसे रहूँगा।'

'मुझे यह आश्चर्य होता है कि जिनके लिए मैंने कष्ट उठाये, वे सब मेरे खिलाफ़ हो गये हैं। मैं अभी अकेला, केवल अकेला हो चुका हूँ। संसारके इन विषयोंसे तो अब घृणा हो गयी है नारायण ! संसार तो काफ़ी किया, लेकिन अब तो थकान ही मालूम हो रही है। हाथमें न भूत रहा, न भविष्य। रसमें अधिकाधिक डूबती मक्षिकाकी तरह मैं तड़फड़ा रहा हूँ। अब सिर्फ आपके चरण प्राणोंसे पकड़कर जी रहा हूँ। समूचे इन्द्रियोंकी पोटली बाँधकर मैंने श्री विट्ठल-चरणोंमें रख दी है और

अपना पूरा भार निर्धारपूर्वक उनके ऊपर (श्रीचरणोंमें) डाल दिया है।

विट्ठल भगवान्‌से सन्तकी सांत्वना :

सन्त चोखामेलाजीके अभंगोमें यह एक अपूर्व प्रसंग मिलता है। वे गाते हैं :

एकांती बैसोनि करी गुजगोष्टी।
धरोनि हनुवटी बुझावित॥
नको वा मानू संसाराचा शीण।
तुज एक खूण सांगतो मी॥
होणार ते होय, न होणार ते न होय।
सुख-दुःख पाहे कर्माधीन॥
देव म्हणे, चोख्या नको मानू शीण।
तुज माझी आण भक्तराया॥

'विट्ठल भगवान् मुझे एकान्तमें मिले और मेरी ठुड्डी पकड़कर उन्होंने बहुत समझाया। कहने लगे : सुख-दुःख तो कर्माधीन है। मैं तुझे एक रहस्य बताता हूँ। जो होनेवाला है सो होगा ही और न होनेवाला कभी नहीं होगा। तू संसारसे व्यथित मत हो, भक्तराज ! तुझे मेरी सौगन्ध है।'

'तू क्यों दुःखके पर्वत मान बैठा है। मैं तेरी सभी कामनाएँ पूरी करनेवाला हूँ। महाद्वारमें (भक्ति-) सुखकी जो राशि नामदेवको मिली है, उस सुखका अधिकारी मैं तुझे करूँगा और तुम पर मेरी नित्य दृष्टि रहेगी।

तू माझा प्राण जिवाचा आवडता।
तुज मी तत्त्वता न विसंबे॥

—(हे चोखाजी,) तू तो मेरा प्राण और मेरे हृदयका प्रियतम है। मैं तुझे तत्त्वतः कभी भूल नहीं सकता।

अतिशूद्र योनिमें जन्म होनेसे श्री चोखामेलाजी लौकिक शिक्षासे तथा ज्ञानसे वंचित थे। सन्त जनाबाई अपने एक अभंगमें कहती है कि सन्त चोखामेलाजी अपने मधुर अभंग रचते जाते और श्री अनन्तभट्ट नामका एक ब्राह्मण उन्हें लिख लेता। श्रीगुरुकृपा, सत्संग और श्रवणभक्तिसे उनका जीवन सम्पन्न था।

श्री नामदेव महाराजके चरणोंमें चोखामेलाजीकी दृढ़ गुरुभक्ति थी। वे कहते हैं —

धन्य धन्य नामदेव।
माझा निसरला भेव॥
विठ्ठल मन्त्र त्रि-अक्षरी।
खूण सांगितली निर्धारी॥
ठेवोनि माथा हात।
दिले माझे मज हित॥
दावियेले तारु।
चोखा म्हणे माझा गुरु॥

'जिन्होंने मेरा (संसारका) भय नष्ट किया, वे नामदेव महाराज धन्य हैं। तीन अक्षरोंका विठ्ठल-मन्त्र बतलाकर उन्होंने मुझे निर्धारसे भान करवाया। मेरे सिरपर हाथ रखकर मेरा कल्याण किया। चोखा कहते

हैं कि मेरे गुरुदेवने मुझे (भव-सागरमें) नौका बना दी ।

'मेरे गुरुदेव, आपने मुझे भक्ति बतायी । मैं जिसका वर्णन नहीं कर पाता, ऐसा हृदय सराबोर करनेवाला आनन्द और प्रेम आपने ही मुझे दिला दिया । आपकी कृपासे मेरा चंचल मन स्थिर बना । गुरुमन्त्रसे मेरा भवताप दूर हो गया और मुझे श्री पंढरीनाथका दर्शन मिला । आप मेरी कृपामयी मां ही हैं ।

'मेरे गुरुदेवने मेरा असली सुख बताया और तीनों लोकोंमें मुझे पावन किया । आश्चर्य है कि उन्होंने मुझे मेरे हृदयमें ही भगवान्‌का दर्शन कराया और मेरे जन्म-मरणके पाश काट दिये ।

जे मन गांजले विषयाचे पोरवी
ते केले पारखे कृपा दृष्टी ।

विषयोंसे भरा हुआ मेरा मन 'श्रीगुरुकृपा दृष्टिसे निर्मल बना । काम-क्रोध अभिमान, दंभ नष्ट हुए । आशा, ममता और चिंता भगायी गयी । अब संसारसे कुछ भय नहीं रहा । श्री नामदेवजीके कितने उपकार हैं जिनसे मेरा पूरा सन्देह दूर हुआ ।

कोणाचा संग धरू कोणासाठी ।
तो दुःखाचीच मिठी पडे तेणे ॥
म्हणोनि नामयाचे धरियेले पाय ।
आठविता होय समाधान ॥
सुखाचे सुख मज दावियेले डोळा ।
आनन्द सावळा विटेवरी ॥
चोखा म्हणे माझा नामदेव प्राण ।
घालीन लोटांगण जीवे भावे ॥

'इस प्रपञ्चमें मैं किसीका और किसीलिए भी संग करता तो मुझे दुःख ही भोगना पड़ता था । इसलिए मैंने श्री नामदेवजी महाराजके चरणोंका आश्रय लिया, जिनके स्मरणसे मुझे समाधान मिल रहा है । श्री गुरुदेवने मुझे सुखोंका परमसुख ईटपर खड़ा हुआ साँवरा आनन्द प्रत्यक्ष करा दिया । श्री नामदेव तो मेरे प्राण हैं । उनके चरणोंमें मैं हृदयसे दण्डवत लोट रहा हूँ ।'

श्री चोखामेलाजीके अभंगोंमें श्री निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सावता माली, नरहरि सोनार, कबीरजी, कमाल, रोहिदास चमार आदि सन्तोंके प्रति गहरा भक्तिभाव प्रकट हो रहा है । उनके सहज उपदेशपरक अभंगोंमें उनका ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, अनासक्ति सुन्दर झलक रही है—

असोनि नसणे संसाराचे ठायी ।
हाचि बोध पाही मना द्यावा ॥
संतांची संगती नामाची आवडी ।
रिकामी अर्धघडी जावो नेदी ॥
काम-क्रोध शुनेपरी करी दूरी ।
सहपरिवारी दवडी बापा ॥
चोखा म्हणे सुख आपे आप घरा ।
नाहींतर फजितखोरा जासी वाया॥

'इस प्रपञ्चमें रहकर भी न रहना, यही मनके लिए सर्वोत्तम बोध है । सन्तोंका संग मिले, नाममें रुचि

हो और अर्थ-घड़ी भी व्यर्थ न जाय। काम-क्रोध और उनका दुष्ट परिवार कुत्तेकी तरह दूर हटाया जाय। इन बातोंसे सच्चा सुख स्वयं प्राप्त होता है। नहीं तो हे मनुष्य, तेरी बड़ी वेइज्जत होगी और तेरा जीना भी व्यर्थ होगा।

'अगर मनुष्यके जीवनमें दया, क्षमा, शान्ति नहीं है तो उसके आचार-विचारको, जन्म-संसारको, ज्ञान-पुराणको, यज्ञ-हवनको, आसन-जटाको और ब्रह्मज्ञानको भी धिक्कार है।'

'फूल सूखनेपर उसकी सुगन्ध नष्ट हो जाती है, मिट्टी अलग होने पर घटाकार नष्ट होता है। इसमें व्यर्थ शोक किसलिए करें? यह तो सब मृगजल ही है। इसमें न फँसना ही विवेक है।'

'यह देह और समूचा संसार भी दुःखरूप है। यहाँ सुखके लेशमात्रका भी विचार नहीं। कन्या-पुत्र तो अपने-अपने सुखके लिए साथ देते और दुःखमें स्वयं दूर हो जाते हैं। मेरा मन थक गया है पंढरीनाथ! अब आप ही मुझे भवपाशसे छुड़ाइये।'

देही देखली पंढरी।
आत्मा अविनाश विटेवरी॥
तो हा पाण्डुरंग जाणा।
शान्ति रुक्मिणी निजांगना॥
आकारिले तितुके नासे।
आत्मा अविनाश विट्ठल दिसे॥
ऐसा विट्ठल हृदयी ध्यायी।
चोखामेला जडला पायी॥

'यह शरीर तो पंढरपुर है और अविनाशी आत्मा ईंटपर खड़ा हुआ पाण्डुरङ्ग है। शान्ति उसकी श्रीमती रुक्मिणी है। आकार जितना है, सब नष्ट हो रहा है। केवल आत्मा अविनाशी विट्ठल है। इस (आत्मरूप) श्री विट्ठलका ध्यान करके चोखामेला चरणोंमें लिपट (लोट) रहा है।'

पांडुरंगी लागो मन।
कोण चिंतन करी ऐसे॥
देहभाव विसरला।
देव गेला बुडोनी॥
जीव-उपाधि भक्ति-बंध।
तेथे भेद जन्मला॥
मुळीच चोखामेला नाहीं।
कैचा राही विटाळ॥

'श्री पांडुरंगमें हमारा मन लगे, यह चिन्तन (कौन) कबतक कर सकेगा? जब देहभाव भूल जाता है, तब ईश्वर भी डूबता है। जहाँ जव-उपाधि, भक्ति और भजनीय परमेश्वर हैं, वहीं भेद जनमता है। जहाँ चोखा-मेला (देहभाव) है ही नहीं, वहाँ 'विटाळ' (अशुद्धताकी कल्पना) ही कैसी होगी?'

'मनमें व्यर्थकी हवस न रहे। श्री विट्ठल-चरणोंका चिन्तन ही भवसागर पार करानेवाला साधनोंका सार है। ईश्वरका नाम लेनेमें कभी आलस्य न करें। इसीसे काम-क्रोध

दूर भाग जाते हैं। हृदयमें दया, क्षमा, शान्ति और सन्तोंका संग इससे अधिक सुन्दर विश्राम नहीं हो सकता। चोखा कहता है कि सदा-सर्वकाल नामपर दृढ़ विश्वास और नामका निदिध्यास बना रहे।'

साधन ते एक। जगासि प्रमाण।
परदारा परधन। वमन जैसे॥

'परदारा और पराये धनको कै (वमन) के समान त्याज्य समझना ही परमार्थका एकमेव साधन है। काम और क्रोध शान्त करके जो वाणीसे हरिनाम जप रहा है, वासना-रहित होकर जो जीवनमें शांति-क्षमाका अनुभव कर रहा है वही सच्चा साधु है। चोखामेला कहते हैं कि स्वयं भगवान् उसका भार ढोते हैं।'

भगवद्दर्शनका आनन्द :

श्री भगवद्-दर्शनका अनुपम प्रसंग वर्णन करते हुए श्री चोखामेलाजी कहते हैं—

आम्हा आनंद झाला।
आम्हा आनन्द झाला।
देवोचि देखिला। देहामाजी॥
देखणे उडाले। पहाणे लपाले।
देवे नवल केले। देहामाजी॥
मागे पुढे देव। रिता ठाव कोठे।
हृदयीच भेटे। देही देव॥
चोखा म्हणे देव। देखिला पंढरी।
उभा भीमेतीरी। विटेवरी॥

'हमें तो आनन्दसे आनन्द हो रहा है, क्योंकि भगवान् तो हमें देहमें ही दीख रहे हैं। (क्या आश्चर्य है!) देखना और दिखायो पड़ना दोनों गायब हो गये। पीछे और आगे भगवान् ही भगवान्! कहीं खाली जगह है ही नहीं। भगवान् हृदयमें मिल रहे हैं। चोखामेला कहते हैं भीमानदीके तटपर ईंटपर खड़ा भगवान् पंढरीनाथको देख रहा हूँ।'

'समूचे कर्म, धर्म, वेदशास्त्र, विधि-निषेध सब जहाँके तहाँ लुप्त-से हो गये। चोखा कहते हैं कि इसी देहमें भगवान्से मिलकर मेरा पूरा संशय नष्ट हो गया है।'

अपने जाति-स्वभावसे और भगवद्भक्तिसे श्री चोखामेला भूत-मात्रके प्रति अतिविनम्र थे। श्री चोखामेलाजीकी जातिके लोग अन्य-वर्णियोंको कमरसे झुककर जो प्रणाम—मुजरा (कुर्निसात) करते थे, उसको **जोहार** कहा जाता था। इस महान् सन्तकी कुछ रचना 'जोहार' नामसे प्रसिद्ध है। वे कहते हैं—

जोहार माय-बाप जोहार।
तुमच्या महाराचा मी महार॥
बहु भुकेला जाहलो।
तुमच्या उष्ट्यासाठी आलो॥
बहु केली आस।
तुमच्या दासाचा मी दास॥
चोखा म्हणे पाटी।
आणिली तुमच्या उष्ट्यासाठी॥

'मेरे माँ-बाप, मैं आपको 'जोहार' (मुजरा) कर रहा हूँ।

मुझे बहुत भूख लगी है और आपके उच्छिष्टकी आशा लगाकर आया हूँ। आपके दासोंका भी दास हूँ। उच्छिष्ट जमा करनेके लिए यह टोकरी लाया हूँ।'

'महाद्वारमें खड़ा रहकर मैं श्री विट्ठलकी नौकरी कर रहा हूँ। खानेके लिए कुछ रोटी माँगता हूँ। मुझपर —इस दीनपर कृपा कीजिये माय-बाप !'

महासमाधि :

श्री चोखामेला महाराजके जीवनका अन्तिम पर्व बड़ा करुणरस-पूर्ण है। जिनके पावन चरणोंपर उन्होंने अपना जीवन न्यौछावर किया था, उन श्री विट्ठल भगवान्से तथा प्राणप्रिय पंढरपुर धामसे उन्हें अन्तिम समय दूर जाना पड़ा।

पंढरपुरसे १८–२० मीलपर मङ्गलवेढा नामका एक गाँव है। वहाँ गाँवकी वेस बाँधनके लिये वहाँके राज्यकर्ता अनेक महारोंको जबरदस्ती ले गये, उनमें श्री चोखामेलाजी भी थे।

श्री पंढरीनाथसे विदा होते समय चोखामेलाजीका किया हुआ विलाप बड़ा हृदय-स्पर्शी है। वे कहते हैं—

'तू सचमुच मेरी माँ है, पंढरीनाथ ! मुझे अपने चरणोंसे अलग करके मंगलवेढा क्यों भेज रहे हो ? क्या मेरा आपको कुछ बोझ तो नहीं हुआ ? अन्तकालमें आप मुझे परदेश भेज रहे हैं, यह मेरे पापका हो फल होगा। अब इतनी ही कृपा कीजिये—

पुढे आता मज। उपजवी पंढरी। अथवा हरिदासाच्या घरी। देई जन्म॥ चोखा ह्मणे विट्ठला। हेचि मज देई। जन्मोजन्मी घेई। सेवा माझी॥

'मेरा अगला जन्म पंढरपुरमें हो अथवा किसी हरिदासजीके घरमें हो। लेकिन जन्म-जन्ममें मेरो सेवा स्वीकार कीजिये भगवन् !'

'आपकी कृपादृष्टि हमपर रहे। श्री नामदेवजी महाराजके साथ (श्रीगुरुचरणोंमें) महाद्वारके सामने रहनेका मुझे सौभाग्य मिले। यह संसार तो अभी मुझे उदास मालूम पड़ रहा है।'

मङ्गलवेढाका अपघात :

श्री चोखामेलाजी मंगलवेढामें अन्य मजदूरोंके साथ कैसे काम करते थे और वहाँ कटु अपघात कैसे हुआ, इसका वर्णन श्री नामदेवजी महाराजके अभंगोंमें मिलता है।

श्री चोखामेलाजी अन्य बान्धवोंके साथ गाँवकी वेस बांधनेमें खूब परिश्रम करते। श्री नामदेवजी कहते हैं—

सर्वकाळ वाचे। विट्ठल नाम छंद। आठवी गोविन्द। वेळोवेळा॥

'काम करते समय वे सर्वकाल प्रभुका नाम गाते थे और गोविन्दका स्मरण करते थे। चार महीने बाद वह वेस अकस्मात् गिर गयी—

चार महिने याचि रीतीने लोटले।
कुसू कडाडले अकस्मात॥
तयाखाली महार बहु चूर झाले।
चोख्याने अर्पिले प्राण देवा॥

उस गिरी हुई वेसके नीचे सैकड़ों महार लोग चूर-चूर हो गये और श्री चोखामेलाजीने भी अपने प्राण अर्पण कर दिये।

उस दिन शके १२६० प्रमाथी संवत्सर वैशाख कृष्ण पंचमी थी।

अपने प्रिय भक्तकी मृत्युकी खबर सुनकर पंढरीनाथ भगवान्‌ने श्री नामदेवजीको चोखामेलाजीकी अस्थियाँ लानेकी आज्ञा दी।

नामदेवजीने पूछा : 'भगवन् मैं इतनी अस्थियोंमें-से चोखामेलाजीकी अस्थियाँ कैसे पहचानूँ ?'

'जिससे विट्ठल-नाम गूँजता हो, वही मेरे भक्तकी अस्थि समझना।' —भगवान्‌ने निशानी बतलायी।

श्री नामदेवजीके अभंगमें श्री पंढरीनाथ स्वयं अपने भक्तका—चोखामेलाजीका गुणगान गा रहे हैं। भगवान् कहते हैं—

चोखा माझा जीव।
चोखा माझा भाव।
कुळधर्म देव।
चोखा माझा॥
काय त्याची भक्ति।
काय त्याची शक्ति।
मीहि आलो व्यक्ति।
तया साठी॥

'मेरा जीव, मेरा भाव, मेरा कुलधर्म और मेरा ईश्वर भी चोखा ही है। कितनी अलौकिक उसकी भक्ति और शक्ति थी ! जिसके लिए मुझ अव्यक्तको व्यक्त होना पड़ा। मेरे चोखाजीका जो स्मरण करेंगे, उन्हें कभी विघ्नबाधा नहीं होगी।'

श्री नामदेवजी परीक्षा करके मंगलवेढासे श्री चोखामेलाजीकी अस्थियाँ ले आये। भगवान् चक्रपाणिने उनको अपने पीताम्बरमें सम्हाला।

देवाच्या अंचळी उठिला गजर।
विट्ठलनाम अंबर गर्जतसे॥
संत समुदाय पताकांचे भार।
लोटले गजर ऐकावया॥
वद्य त्रयोदशी वैशाख शुक्रवार।
नामाचा गजर महाद्वारी॥
अस्थि-निक्षेपण आपुलिया हाते।
करुनि अनंते पाषाण ठेवी॥

'पंढरीनाथके पीताम्बरमें स्थित सन्त चोखामेलाजीकी अस्थियाँ विट्ठल-नामकी गूँज करने लगीं और समूचा आकाश विट्ठल-नामसे भर गया। सन्तोंके और भक्तोंके बड़े समुदाय अपने निशान (झण्डे) लेकर वहाँ उपस्थित हुए। उस दिन वद्य त्रयोदशी शुक्रवार था (मृत्यु मंगलवेढामें वद्य पंचमीको हुई थी)। स्वयं विट्ठल भगवान्‌ने अपने हाथोंसे मन्दिरके महाद्वारमें इस सन्तकी अस्थियाँ रखकर ऊपर पाषाण रख दिया। भगवान्‌की पटरानियां राई (राधा),

रुक्मिणी और सत्यभामा आरती उतारने लगीं।

भगावन्‌का यह भक्त-वात्सल्य देखकर श्री नामदेव महाराज कहते हैं—

नामा ह्मणे धन्य। विठाबाची कृपा। जाईन माझ्या बापा। ओवाळून॥

'सचमुच श्री विट्ठलकी यह कृपा, यह वात्सल्य धन्य है ! मैं तो इसपरसे स्वयंको न्यौछावर करना चाहता हूँ।'

पंढरपुरमें आज जब हम श्री पंढरीनाथके दर्शनके लिए मन्दिरकी ओर चलते हैं, तो मन्दिरकी पहली सीढ़ीपर श्री नामदेवजी महाराजकी समाधिका दर्शन होता है। इस सीढ़ीको मराठी भाषामें **नामदेवाची पायरी** कहते हैं। यह प्रथम सीढ़ी कभी पैरसे छुई नहीं जाती।

श्री नामदेवजी महाराजकी समाधिके बिलकुल सामने, ढाई-तीन फुटपर उनके प्रिय शिष्य श्री चोखामेलाजीकी भगवान्‌के हाथोंसे दी गयी समाधि है।

महाराष्ट्रके ये दो महान् गुरु-शिष्य, श्री पंढरीनाथके कण्ठमें शोभायमान दो रत्न, आज भी भगवत्कथामृतका पान कर है। चन्द्रभागा नदीके उस पार वह स्थान है, जहाँ नीमका पेड़ और श्री चोखामेलाजीकी कुटिया थी। वहीं वे बैठकर श्री पंढरीनाथके सम्मुख हो भजन करते। कहते हैं—वहाँ पंढरीनाथ स्वयं उनके साथ भोजन करने आते। (एक दिन तो भगवान्‌का पीताम्बर भोजन करते समय दही उछल पड़नेसे खराब हो गया था।) श्री चोखामेलाजीका तथा उनके हरिभक्त-परिवारका वही निवास-स्थान था।

श्री चोखामेलाजीका यशो-गान कौन कर सकता है ? श्री पंढरीनाथसे एकरूप होनेसे उनका यश भी असीम, अनन्त बन गया है। उनके प्रिय शिष्य श्री वंका महार अपने अभंगमें गाते हैं—

चोखा चोखट निर्मळ। तया अंगी नाहीं मळ।
चोखा सुखाचा सागर। चोखा भक्तिचा आगर॥
चोखा प्रेमाची माउली। चोखा कृपेची साउली।
चोखा मनाचे मोहन। बंका घाली लोटांगण॥

'चोखामेलाजी बिल्कुल शुद्ध, निर्मल हैं। उनके स्वरूपमें तनिक भी मैल नहीं। वे सुखके सागर हैं, भक्तिके आगर हैं। वे प्रेममयी माँ हैं, कृपापूर्ण छाया हैं। वे ता मेरे मनके लिए (साक्षात्) मोहन हैं। उनके चरणोंमें बंका साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर रहा है।

श्री वंकाजीके साथ हम सब श्री चोखामेलाजी महाराजके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम कर हैं कि उनकी महान् भक्तिके कुछ अंश हमारे जीवनमें भी उतर आयें। ●

माघ और भारवि ★ नीति-तत्त्वके कवि

पद्मविभूषण पण्डितराज श्री राजेश्वरशास्त्री द्राविड, काशी

विज्ञानमय कोश गरुड़ है। उसके पक्ष हैं—ऋत और सत्य। अतः विद्वान् महाकवियोंका यह भी एक पावन कर्तव्य है कि दुर्बोध शास्त्रका अर्थनिश्चय करानेके लिए आनन्दके रूपमें सर्वसाधारणके प्रति उसको प्रकट करें। इसी दृष्टिसे विद्वान् साहित्यकी भाषामें विषयोंकी अवतारणा करके लोगोंके हृदयमें शास्त्र-रहस्य प्रविष्ट करते हैं। नीति-तत्त्वका नवनीत लोगोंमें प्रचारित करनेके लिए सहृदय कवि माघ और भारवि दोनोंने जो रचना की है, वह कभी राजनीतिज्ञोंके भुलाने योग्य नहीं है। इसलिए नीति-निर्धारणके प्रसंगमें उन कवियोंने जो कर्तव्यका उपदेश किया है, उसकी किञ्चित् चर्चा की जाती है।

दोनों ही कवि परस्पर संवादका प्रसंग उपस्थित करके अपना-अपना मत प्रकट करते हैं। माघने श्रीकृष्ण-मतका निरूपण इस प्रकार किया है—'अपना हित चाहनेवालेको शत्रुकी शक्ति-वृद्धिकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। शिष्ट पुरुषोंका उपदेश है कि बढ़ते हुए रोग और शत्रु दोनों एक समान है।[1] प्रश्न यह है कि शत्रुकी शक्ति-वृद्धिकी उपेक्षा क्यों नहीं करनी चाहिए? इसका उत्तर श्रीकृष्ण देते हैं—'शत्रुओंकी शक्ति-वृद्धि जनताको भस्म कर रही है, इस कारण मैं बहुत दुःखी हूँ।[2] इसका अभिप्राय यह है कि किसीकी भी शक्ति-वृद्धि लोकहितके पक्षमें होनी चाहिए, लोक-विनाशके पक्षमें नहीं।

---

१. उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च॥ (शि० व० २.१०)

२. यत्तु दन्दह्यते लोकमदो दुःखाकरोति माम्।

बलराम भी श्रीकृष्णके मतसे अपनी सहमति प्रकट करते हैं—'श्रीकृष्णने निर्दोष और समर्थ अभिमत प्रकट किया है। उसका उत्तर केवल इतना ही है कि शीघ्रसे-शीघ्र उनके वचनोंके अनुसार क्रिया की जाय।'[1]

श्रीकृष्णके उत्सवस्वरूप उद्धव राजनीति-मन्त्रके कुशल मन्त्री हैं। उत्तरका अवकाश प्राप्त होनेपर वे अपने मतको इस प्रकार प्रकाशित करते हैं—'हमारे शत्रु सहज चपलताके दोषने अधिक उद्धत हो रहे हैं और उन्होंने अस्थिर एवं दुर्बल पक्षपातियोंकी सहायता ले रखी है। तुम्हारे अग्निके समान दुर्द्धर्ष पराक्रममें वे पतङ्गके समान जल जायँ।'[2] उद्धवका अभिप्राय यह है—धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञमें श्रीकृष्णको अवश्य जाना है। शिशुपाल भी मित्रोंके साथ वहाँ आयेगा। श्रीकृष्णके पूजा-सत्कारको देखकर वह चिढ़ जायगा और अभाष्य-भाषण करेगा। उसको इस उच्छृङ्खलतापूर्ण अवज्ञासे दूसरे वीर नरपति शिशुपालके विरोधी और धर्मराजके मित्र बन जायँगे। ऐसी परिस्थिति बन जानेपर शिशुपालको पराजित करना सुगम हो जायगा। यदि ऐसा न करके पहले ही शिशुपालपर चढ़ाई कर दी जायगी तो दूसरे सत्पुरुष राजा भी हमें यज्ञमें विघ्नकारी मान बैठेंगे। हमसे शत्रुता करने लगेंगे और धर्मराज भी अपने पक्षमें नहीं रहेंगे। ऐसी अवस्थामें श्रीकृष्णके मतानुसार शिशुपालकी वृद्धि रोकनेके लिए उसको पराजित करना तो आवश्यक है, किन्तु बलरामके मतानुसार उसपर शीघ्रातिशीघ्र चढ़ाई कर देना उचित नहीं है। (देखिये, शि० व० २.१०१)

श्रीकृष्णने उद्धवका भाषण श्रवण करके उसको स्वीकार किया और इन्द्रप्रस्थकी यात्रा की। अपने मन्त्रीके वचनका आदर करके उन्होंने तात्कालिक युद्धाभिनिवेशका परित्याग कर दिया।

माघके समान ही भारविने भी युधिष्ठिर, द्रौपदी और भीमसेनके संवादके रूपमें निगूढ़ एवं गूढ़ नीति-तत्त्वका उद्घाटन करके अपना गुण-गौरव प्रकट किया है। भीमसेनका कहना है कि 'प्रमादजन्य आलस्यका परित्याग करके पराक्रम-प्रकाश करनेका ही उपक्रम करना उचित है। शत्रुओंकी ओरसे जो भी आपत्ति-विपत्ति है, वह तुम्हारे अनुत्साहके कारण है' (कि० २.२२)। स्पष्ट है

---

१. यद्वासुदेवेनादीनमनादीनवमीरितम्।
वचसस्तस्य सपदि क्रिया केवलमुत्तरम्॥ (शि० व० २.२२)

२. सहजचापलदोषसमुद्धतश्चलितदुर्बलपक्ष - परिग्रहः।
तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभतां लभतामसुहृद्गणः॥ (शि.व. २.११७)

कि भीमसेन धर्मराजको युद्ध-नीतिकी ओर प्रेरित कर रहे हैं, किन्तु धर्मराज इस नीतिको स्वीकृति नहीं देते और वनमें निवास करना ही उचित समझते हैं तथा अपने पराक्रमके उपायोंको परिपूर्ण करनेके लिए सहिष्णुताको ही हितकर नीति बतलाते हैं—'सहिष्णुताके समान दूसरा कोई उपाय नहीं हैं। परिणाममें इससे परमहित होता है। थोड़ा होनेपर भी यह बहुत बड़े फलकी जन्मभूमि है। शत्रुओंको मिटानेके लिए तो यह अमोघ साधन है। वह सहिष्णुता, वही तितिक्षा।'[1]

माघ और भारविने पूर्वपक्ष और उत्तर पक्षके रूपमें नीति-तत्त्वका प्रकाशन किया है। भीमसेन एवं बलराम पूर्वपक्षी हैं। उद्धव तथा धर्मराज उत्तरपक्षी—सिद्धान्तवादी हैं। परन्तु जबतक इसका कोई निर्णायक तत्त्व उपलब्ध नहीं होता, तबतक कविके हृद्गत आशयका परिचय नहीं मिलता और न तो औचित्यका समीचीन अधिगम ही होता है। अतः इस सम्बन्धमें विवेचनके लिए अर्थशास्त्रका मत अवश्य जानना चाहिए; क्योंकि युक्तियुक्त, शास्त्रसम्मत मत ही संशय-निरास और निश्चय-विकासके लिए निर्णीत सिद्धान्तपर पहुँचनेमें प्रदीपका काम करते हैं। क्या उत्तम सूक्ति है? 'जब विवेकियोंके सम्मुख कर्त्तव्य-विधानके सम्बन्धमें कोई गहन अनुसन्धान उपस्थित होता है और वह बुद्धिभेदके अन्धकारसे तिरोधानको प्राप्त होने लगता है तब सुकृत एवं परिशुद्ध आगम ही दीपके समान अर्थदर्शनका हेतु बनता है।'[2]

यद्यपि अपने-अपने वैचारिक दृष्टिकोणसे भिन्न-भिन्न नीति-चिन्तकोंके लिए अनेक नीतिशास्त्र हैं। उनका अनुसरण करनेसे उन्हें सफलता भी दुर्लभ नहीं होती तथापि जो सम्पूर्ण जनताके लिए पूर्णरूपसे योगक्षेम सम्पादन करना चाहते हैं, उनके लिए पूर्व परम्परा-प्राप्त चाणक्यानुसृत अर्थशास्त्र ही निर्णायक है।

यह स्पष्ट है कि प्रतिभा-रवि भारवि तथा माघ - दोनों ही पूर्वोत्तर पक्षके द्वारा सिद्धान्त निश्चय करके अपनेको अर्थशास्त्रका अनुयायी ही प्रकट करते हैं। उनके अनुसार विचार करनेपर श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर भी अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे जनताके योगक्षेम और लोक-कल्याणका चिन्तन करते हैं, परन्तु गम्भीरतासे विचार करनेपर यह अविदित नहीं रहता कि दोनों यह सिद्धान्त इसीलिए स्थिर करते हैं कि उनका यह दृढ़ अभिप्राय है कि जिस पक्षमें धर्म है वही विजयी होता

१. उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम्॥ (कि.२.४३)

२. मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥ (कि० २.३३)

है। जो धर्मको विजयशील मानता है, निश्चय ही उसका बल बढ़ता है, उत्साह-सम्पत्ति वृद्धि-समृद्धि होती है और जनताके लिए योगक्षेमकी सुविधा होती है। यही कारण है कि लोकविचक्षण विलक्षण और समदर्शी सन्त भी धर्म द्वारा लोक-कल्याण विधायकके प्रति अनुरक्त होते हैं, आशीर्वाद देते हैं और पक्षपात भी करते हैं। (देखिए, किरातार्जुनीय सर्ग ३)। 'धर्मराज तुम्हारे गुणोंने मेरे हृदयको जीत लिया है, कोमल कर दिया है। भले ही कोई वीतराग और मुक्त हो परन्तु उसके हृदयमें भी हितकारी वस्तुके प्रति पक्षपात होता है। धर्म-विजयी पुरुष निरपराधको दण्ड नहीं देता। अनुचित दण्ड भी नहीं देता। दुष्टको दण्ड देनेमें हिचकता भी नहीं। इसलिए जनता उसके प्रति विश्वस्त और आश्वस्त रहकर चैनसे रहती है। श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरने जनताका यह विश्वास प्राप्त कर लिया था। उनका निश्चय था कि तप और धर्म कभी पराजित नहीं होते। नारद सदृश महात्मा धर्मराजका दूत बननेमें और श्रीकृष्णका दर्शन करनेमें अपनेको कृतार्थ मानता है। (देखिए, कि० १.२१)।

छिछले विचारक ऐसा सोचते हैं कि काव्यके इस प्रसंगमें श्रीकृष्णका धर्मके विजयी होनेका सिद्धान्त ध्वनित नहीं होता; क्योंकि उन्होंने पहले ही शिशुपालके प्रति चढ़ाई करनेका निर्णय प्रकट कर दिया है। परन्तु आधुनिक विचारकोंका यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि बलराम और उद्धव मन्त्री हैं। उनके मतको जाननेके लिए प्रस्तावके रूपमें ही श्रीकृष्णने अपने सुझाव रखे थे जैसा कि स्पष्ट है—'आप लोगोंको भाषणका विषय उपस्थित करनेके लिए ही मैंने यह विषय दिया है। नाटकीय वस्तुका प्रसंग उपस्थित करनेके लिए ही पूर्वरंग होता है।'

(कि० २.८)।

जहाँ नेता धर्मपक्षके विजयपर विश्वास नहीं रखेगा वहाँ वह काम अथवा लोभके विजयपर विश्वास रखनेके लिए बाध्य होगा। ऐसे नेता नीति-कुशल होनेपर भी और प्रशासनके ऊँचे सिंहासनपर आरूढ़ होनेपर भी प्रजाके विश्वास-भाजन नहीं हो सकते। जनता सोचेगी कि काम और लोभके वशीभूत होकर विजयी होनेवाले काम और लोभके द्वारा हमारा भी शोषण करेंगे।

कौटल्य अर्थशास्त्रमें कहा गया है कि तीन प्रकारके नेता होते हैं—धर्मप्रेमी, लोभप्रेमी और आसुरप्रेमी। लोक-कल्याणसे धर्मविजयी सन्तुष्ट होता है। उससे दूसरे अधार्मिक लोग भी भयभीत रहते हैं। लोभ विजयी नेता भूमि और धनका हरण करके सन्तुष्ट होता है। आसुर विजयी न केवल धन-धामके हरणसे सन्तुष्ट होता है, प्रत्युत स्त्री, पुत्र और प्राणका भी हरण कर लेता है। नेताकी प्रकृति देखकर ही प्रजा उसको सन्तुष्ट करनेका प्रयास करती है। पहले नेताके लिए

जनता धर्मात्मा बनेगी। दूसरे नेताके लिए जनता घूस देगी और तीसरे प्रकारके नेताके लिए जनता स्त्री एवं गुलाम उपस्थित करेगी। अतः बाल्यावस्थासे ही ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि बालक धर्मके स्थायी विजयपर विश्वास रखकर अनुशासनमें चले। उसके कर्म, आहार, माता-पिता, शिक्षक सब शुद्ध हों, इसलिए प्रयत्न करना चाहिए। अनुशिष्ट एवं शिष्ट राजकुमार सन्तोंके लक्षणोंसे सम्पन्न होता है। उपदेशकी प्रक्रिया यह है—तृष्णा छोड़ो, क्षमा धारण करो, अभिमान मत करो, पापसे प्रीति-रीति मत जोड़ो, सत्य बोलो, सत्-पुरुषका अनुगमन करो, विद्वानोंकी सेवा करो, आदरणीयोंका आदर करो, शत्रुसे भी विनीत रहो, मड़को मत, अपने गुणोंको भीतरसे बाहर आनेका अवसर प्रदान करो अर्थात् उन्हें क्रियान्वित करो, पूर्वजोंके यशको नष्ट मत होने दो। दुःखी चाहे कोई भी हो, उसपर दया करो। ये लक्षण तुम्हारे सन्तपनेको सूक्ष्ममें प्रकट करके व्यावहारिक बना देंगे।[1] लोभविजयी और आसुरविजयीमें ये लक्षण कभी नहीं हो सकते; क्योंकि एक अर्थप्रधान है तो दूसरा कामप्रधान। लोभी और कामी शासक जनताका चिरकाल तक विश्वासपात्र नहीं रह सकता। अभिप्राय यह हुआ कि अर्थशास्त्रके अनुसार भी कामी और लोभी शासकका पक्ष-सिद्धान्त नहीं है, धर्मात्मा शासकका ही पक्ष सिद्धान्त है। उसीपर ही जनता चिरकाल तक विश्वास कर सकती है। यही कारण है कि जब शिष्टानुशिष्ट शास्त्रानुयायी सत्पुरुष चिन्तन करते हैं तब यही निश्चय करते हैं कि जहाँ-जहाँ धर्मको प्रधानता नहीं है वहाँ-वहाँ असुर अथवा लोभ हो विजयी हुए हैं और उन्हें कितना भी धन और शासन क्यों न प्राप्त हुआ हो, धार्मिकोंके लिए आदरणीय नहीं है। अतएव 'शिशुपाल-वध' के महाकवि माघ और 'किरातार्जुनीय' के प्रतिभा-रवि भारवि बलदेव एवं भीमसेनके वचनको पूर्वपक्षके रूपमें ही उल्लिखित करते हैं, उन्हें सिद्धान्त नहीं मानते हैं। अतः श्रीकृष्ण और धर्मराजका भाषण ही सिद्धान्तपक्षको प्रकट करता है। यह स्पष्ट है महाभारत आदिके अनुसन्धानसे कि बलराम और भीमसेन वारुणी एवं काम-व्यसनसे अभिभूत हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कामवासना सर्वथा परित्याज्य है। वह धर्मविजयीका अङ्ग है, शरीर नहीं और अङ्गके रूपमें उसकी शोभा होती है। यदि धर्म-विजयीको धर्मानुकूल भोगका त्याग करना पड़े तो लोगोंकी धर्म-विजयमें

१. तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम्।
मान्यान् मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान् गुणान्
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत् सतां लक्षणम्॥

अभिरुचि ही नहीं रहेगी। गीतामें स्वयं कृष्णने अपनेको धर्माविरोधी काम कहकर कामको गौरवान्वित किया है।

निश्चय ही पुरुषार्थोंमें कामकी प्रधानता है परन्तु जब कामपर धर्मका अंकुश नहीं रहता या काम धर्म-विरोधी हो जाता है तो अन्ततोगत्वा तृष्णा मन्त्राके पदपर बैठ जाती है और प्रशासकको धन, स्त्री, पुत्र, भूमि एवं प्राण-हरणकी प्रेरणा देकर असुर बना देती है। इस प्रकार भले अपने पक्षमें कितने भी तर्क-वितर्क, उक्ति-युक्ति हों; धर्मके सम्बन्धमें प्रमाद नहीं करना चाहिए। हम देखते हैं कि दोनों ही कवि भीमसेन और बलरामको स्वपक्षके दुराग्रहसे मुक्त कर देते हैं और परिणामतः श्रीकृष्ण और धर्मराजके मतको स्वीकार कर लेते हैं। आसुर भाव और लोभसे प्रेरित राजनीति त्याज्य है और धर्मसे अनुप्राणित राजनीति ग्राह्य है। यह सिद्धान्त दोनों ही कवियोंने अति ललित भाषामें वर्णन किया है और जनताकी बुद्धिमें अनायास ही यह सिद्धान्त भर दिया है कि धर्म और न्याय ही वस्तुतः परमानन्द हैं। परमानन्दमें सबकी स्वाभाविक रुचि होनी चाहिए। अतः सहृदय कवियोंके आशयका यत्किंचित् विवेचन करके अब मैं उपराम होता हूँ।



स्नेह और सहानुभूतिके बिना चिकित्सा सम्भव नहीं

दवा ही पूरा विज्ञान नहीं है। मनुष्यमें भावनाएँ हैं और एक भूख है। हम इन्हें माप नहीं सकते। हालाँकि यह पूर्णतः सत्य है कि ये दोनों ही चीजें आदमीके स्वास्थ्यको प्रभावित करती हैं। शारीरिक बीमारियाँ साधारणतः मनुष्यके प्रेम, घृणा, उत्तेजना, भय, चिन्ता, परेशानी तथा उत्सुकताका प्रदर्शनमात्र होती है।

मैं इतना ही कहनेकी हिम्मत कर सकता हूँ कि शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी जो चातुर्य प्राप्त हुआ है, जितनी टेकनीकल तरक्की हुई है, छूतोंकी रोकथामकी जो जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं, रक्त प्रवाह रोकने और आघातसे मुक्त करनेकी जो क्षमता प्राप्त हुई है सभी व्यर्थ हो जायगा, यदि चिकित्सकमें स्नेह तथा सहानुभूतिका अभाव हुआ।

—ब्रिटिश मेडीकल जनरल

जन्म और अवतार : दार्शनिक दृष्टिकोण

जन्म-शब्द साधारण जनोंमें प्रसिद्ध है, किन्तु सभी जगह इसका उत्पत्ति या पैदाईश अर्थ नहीं है। जो लोग जीवको नित्य मानते हैं—जन्म-जन्मान्तरमें जीव अनेक योनियोंमें भ्रमण करता है, इस जन्ममें पूर्वजन्ममें किये गये पाप-पुण्योंका भोगता है और इस जन्ममें अर्जित पाप-पुण्योंको अगले जन्ममें भोगेगा, इत्यादि स्वीकार करते हैं—वे आत्माकी उत्पत्ति नहीं मानते, फिर भी जीवका जन्म आदि व्यवहारोंमें जीवके साथ जन्मका सम्बन्ध करते हैं। तब 'जन्म' शब्दका क्या अर्थ है? जीवका जन्म और ईश्वरका अवतार इसमें कुछ भेद है या नहीं; क्योंकि जीव भी नित्य हैं और ईश्वर भी नित्य है। दोनोंका शरीर-सम्बन्धसे ही जन्म या अवतारका व्यवहार होता है। निर्गुण निर्विकार निराकार सर्वव्यापी सर्वज्ञ ईश्वरका शरीरसम्बन्ध माननेपर उनके विशेषणोंका विरोध आता है। वे अनुपपन्न होते हैं। अतः ईश्वरका अवतार नहीं होता, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं जैसे कि स्वामी दयानन्दजी तथा उनके अनुयायी।

श्री श्री० दा० सातवेलकरजी सम्पादित प्रकाशित वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड, हिन्दीके प्रास्ताविक वक्तव्य में ३७८ पृ० पर ऊपरका अभिप्राय स्पष्ट रूपसे वर्णित है, जिससे रामायण-नायक श्री रामचन्द्रजी मानव-शरीर धारण करते हुए सर्वव्यापी सर्वज्ञ ईश्वर नहीं हैं, ऐसा सिद्ध किया गया है।

आस्तिकहृदय ईश्वरके अवतारपर विश्वास करता है, अवतारोंकी लीलाओंमें रमण करता है। लीला-

श्री केदारनाथ ओझा

विभूतियोंके भजन-पूजन और कीर्तनोंसे इस लोकमें परमशान्ति तथा आगेके लोकोंमें सभी पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करता है। **अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्** इत्यादि श्रुतियोंमें अनित्य-शरीर आदिका सम्बन्ध रहनेपर सर्वदा अशरीरस्वभाव आत्मा है, ऐसा बताया गया है। प्रकृतमें जैसे नित्य चेतन जीव अनित्य जड़शरीर सम्बन्ध होनेपर भी अनित्य और जड़ जैसे नहीं होता वैसे ही परमात्मा अनित्य कच्छप-

वराह, नर आदि शरीर धारण करनेपर भी जैसेका तैसा रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। शास्त्रोंमें जैसा प्रतिपादित है वैसा ईश्वरका अवतार माननेमें कोई बाधा नहीं, यह यहाँ कहा जाता है। यद्यपि जीव और ईश्वर दोनोंका शरीर अनित्य है, यह भी कुछ लोग पसन्द नहीं करते। भक्तिशास्त्रोंमें कुछ उसके अनुसार दर्शनग्रन्थोंमें ईश्वरका शरीर नित्य है, नित्यविभूति है, अनित्य होनेपर भी अप्राकृतिक सत्त्वमय है, इत्यादि आता है तो भी उसको यहाँ खण्डन या मण्डन किसी रीतिसे नहीं लिया जाता है। ईश्वरका शरीर अनित्य है तो भी जीव शरीरसे विलक्षण है। क्या विलक्षणता शास्त्रसिद्ध है? यह यहाँ बताया जाता है, जन्म और अवतारका लक्षण किया जायगा उसीसे उसका भेद स्पष्ट होगा।

जन्म-लक्षण

पहले जन्मका लक्षण देखा जाय। शरीरके साथ सम्बन्धका नाम जन्म हो तो मुक्त-अमुक्त व्यापक जीवका किसी न किसी शरीरसे सर्वदा सम्बन्ध रहता है तो सर्वदा जन्मका व्यवहार हो। पर ऐसा होता नहीं, इसलिए प्रथम क्षणमें जो शरीरका सम्बन्ध है उसको जन्म कहना चाहिए। द्वितीय क्षणमें प्रथम क्षणका नाश हो जाता है, अतः जन्म बीत जाता है तब पैदा हुआ, ऐसा भूतकालका व्यवहार होता है। जब तक वह प्रथम क्षण पैदा नहीं हुआ है तब तक उसका (प्राक्) पहले अभाव है। उसको लेकर पैदा होगा, ऐसा भविष्यकालका व्यवहार होगा।

इतने पर भी जब कोई भी किसीका शरीर पैदा हुआ। उसके साथ विभु, मुक्त-अमुक्त सभी आत्माओंका संयोग आदि सम्बन्ध होता है। सभी मूर्त वस्तुओंके साथ जिसका सम्बन्ध हो उसीको विभु कहते हैं। उस शरीरके प्रथम क्षणमें सभी आत्माओंके जन्मका व्यवहार होने लगेगा, प्रथम क्षणमें शरीरका सम्बन्ध हो गया। दूसरेके शरीरसम्बन्धसे दूसरेका जन्म व्यवहार नहीं होता। अतः प्रथमक्षणमें अपने शरीरके साथ सम्बन्धको जन्म कहते हैं, लक्षण किया गया है। सभी शरीर अपना शरीर नहीं है, इसलिए दूसरे शरीरसम्बन्धको लेकर दोष नहीं होगा। जिस शरीरसे अपना भोग हो वह शरीर अपना शरीर है, यद्यपि शत्रु-शरीरसे दुःख और मित्र-शरीरसे सुख होता है, इस प्रकार दूसरे शरीरोंसे भी दूसरेको सुख-दुःख हुआ करता है, तो भी यहाँ भोग शब्दसे सुख-दुःख नहीं लेना है, किन्तु सुख-दुःखका साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) लेना है। दूसरे शरीरसे दूसरेको सुख-दुःखका प्रत्यक्ष नहीं होता, हर एक आत्माके भोगके लिए एक-एक शरीर नियत है। सभी शरीरोंसे या दूसरे

शरीरसे दूसरेको ऐसा भोग नहीं होता, जिस शरीरसे अपने सुख-दुःखका प्रत्यक्ष हो सके वह अपना शरीर समझना चाहिए। इसके लिए संस्कृत-की परिष्कारभाषामें अवच्छेदक शब्दको जोड़कर लक्षण बनाया जाता है। उसको यहाँ छोड़ देता हूँ।

अपनेमें रहनेवाला जो पाप-पुण्य, उससे पैदा होनेवाले शरीरको अपना शरीर कहनेके लिए उद्यत होते हैं। लेकिन वह ठीक नहीं बैठता। जो जो कार्य जिसके पाप-पुण्योंसे पैदा होता है वह-वह कार्य उसके सुख-दुःखको साक्षात् या परम्परासे पैदा करता है, यह एक व्यवस्थित नियम है, क्योंकि विना पाप-पुण्यके दुःख-सुख नहीं होता। इसके अनुसार जिन जिन शरीरोंसे सुख या दुःख होता है वे शरीर अपने शरीर हो जायँगे, ऐसा होता नहीं, अतः पहले लिखे हुए अपने शरीरका लक्षण करना ठीक है।

योगियोंको कायव्यूह द्वारा भोग होता है। वहाँ सभी शरीर अपना शरीर कहा जाता है। इसलिए प्रारब्ध कर्मकी शीघ्र समाप्ति हो जाय, इसी इच्छासे योगी लोग कायव्यूह धारण करते हैं। बाल, यौवन आदि अवस्थाभेदसे शरीर-भेद माननेपर सजातीय पद जोड़कर काम चलाया जायगा। बाल, यौवन आदि शरीर भेद होनेपर भी चैत्र, मैत्र आदि व्यवहार नहीं बदलता। अतः उसमें चैत्रत्व आदि जाति मान ली जाती है। गर्भावस्थामें जब शरीर रहता है उस समय जन्मका व्यवहार नहीं होता, इसलिए गर्भके बाहर देशमें शरीरका सम्बन्ध जन्मके लक्षणमें देना चाहिए।

इसी शरीरसे इसका भोग होता है, इसका नियन्त्रण शरीरको पैदा करनेवाले विलक्षण पाप-पुण्योंके ऊपर निर्भर है। शरीर होनेपर कर्म करनेसे पाप-पुण्य होगा, पाप-पुण्य होनेसे शरीर होगा, इस तरहका अन्योन्याश्रय ऐसे स्थलोंपर सभी दार्शनिकोंको सह्य है। इसी प्रकार कर्मप्रवाह, जन्म-मरण-परम्परा और संसार तथा बन्धन अनादि सिद्ध होता है। जैसे बीज अङ्कुरकी परम्परा अनादि है। इस प्रकार प्रथम क्षणमें गर्भके बाहर देशमें अपने भोगका अवच्छेदक (कारण) सजातीय शरीरका सम्बन्ध जन्म कहा जाता है। कालके सबसे सूक्ष्म अंशको क्षण शब्दसे व्यवहार किया जाता है। जिस क्षणमें वस्तुके किसी क्षणका नाश न हुआ हो और वस्तु विद्यमान हो, वह क्षण वस्तुका प्रथम क्षण कहा जाता है। शरीरसम्बद्ध आत्मामें भोग होता है, केवल आत्मामें नहीं। वह शरीर-आत्माका सम्बन्ध संयोग आदिसे विलक्षण है, विभु आत्माओंका संयोग तो सभी शरीरोंसे है। उसका परिचय विद्वान् लोग अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव सम्बन्धसे देते हैं; उसका हिन्दीमें प्रचार न होनेसे छोड़ दिया जाता है।

किसी नैयायिकने ईश्वरमें नित्य सुख स्वीकार किया है। उसका साक्षात्कार सर्वज्ञ ईश्वरमें नित्य ही है, इस प्रकार नित्य भोग ईश्वरमें आ जाता हैं तो भी नित्यका कोई अवच्छेदक नहीं होता, अतः जन्मके लक्षणमें कोई दोष नहीं आता। वास्तवमें ईश्वरके नित्य सुखका कहीं उपयोग नहीं होता, उपनिषदोंके शब्द-समन्वयके लिए कुछ लोगोंने माना है। सुखपदकी दुःख-राहित्यमें लक्षणा द्वारा निर्वाह करके नैयायिक लोग ईश्वरमें नित्य सुख नहीं मानते। इस प्रकार नैयायिकोंके पदार्थोंका अधिकतर उपयोग करके जन्मका लक्षण सम्पन्न किया गया।

दूसरे दार्शनिकोंका लक्षण प्रायः ऐसा ही होगा। अपना शरीर कौन कहा जायगा ? इसीमें कुछ फरक पड़ेगा। जैसे सांख्यके मतमें सुख-दुःख आदि धर्म अन्तःकरणके हैं, आत्माके नहीं, किन्तु सुख-दुःखका साक्षात्कार-स्वरूप भोग पुरुषका मानते हैं, नैयायिकोंके यहाँ साक्षात्कार प्रत्यक्ष आत्मामें रहनेवाला है। सांख्यमें आत्मरूप ही प्रत्यक्ष है, आत्मा पुरुष ही प्रकाश है और जड़ हैं। लिङ्गशरीर द्वारा या स्वतन्त्ररूपसे वुद्धि आदि हरएक पुरुषके लिए नियत हैं और वुद्धि आदि अनादिकालसे मुक्तितक पुरुषमें लगे हुए हैं। वुद्धि या लिङ्गशरीर लेकर जन्मका व्यवहार नहीं होता, पाट्कौशिक शरीर ग्रहण करनेपर ही भोग अथवा जन्म आदिका व्यवहार होता है। शरीरको अधिष्ठान करके अथवा शरीरसे विलक्षण सम्बन्धवाली वुद्धि पुरुषके उपभोगको पैदा करती है। ऐसा उनका सिद्धान्त मानकर जन्मका लक्षण करना चाहिए। इस प्रकार अपने उपभागको पैदा करनेवाली जो वुद्धि, उसका अधिष्ठान अथवा अवच्छेदक जो शरीर, उस शरीरके साथ प्रथम-क्षणमें गर्भके वाहर देशमें जो सम्वन्ध, उस सम्बन्धको जन्म कहते हैं, ऐसा सांख्यके अनुसार जन्मका लक्षण समझना चाहिए।

वेदान्तियोंके अनेक प्रस्थान हैं, प्रस्थानभेदसे जीव-ईश्वरके स्वरूपमें भी भेद हो जाता है। सभी प्रस्थानोंका यहाँ वर्णन नहीं हो सकता, किसी प्रस्थानमें जीव ईश्वरका सर्वथा अभेद है, साक्षात्कार तो चैतन्य रूप ही है। तो भी ब्रह्म या ईश्वरमें वस्तुतः भोग नहीं माना जाता। किसी प्रस्थानमें बिम्ब प्रतिबिम्बभाव है, बिम्ब प्रति-बिम्बमें भेदाभेद स्वीकार किया जाता है। उस पक्षमें बन्धके ऐसा प्रतिबिम्ब जीवमें भोग भी माना जा सकता है, तो भी अध्यासके कारण है, वास्तविक नहीं है। सुख-दुःख या उनका साक्षात्-काररूप भोग अन्तःकरणमें ही माना जाता है, अध्यासके कारण चेतनमें व्यवहृत होता है, शरीरमें अधिष्ठित अथवा शरीरसे अवच्छिन्न अन्तःकरणमें

भोग होता है। यहाँ अन्तःकरणका अधिष्ठान जो शरीरको बताया गया है वह भूमका अधिष्ठान नहीं है, किन्तु धारण करनेवाला आधार-विशेष अथवा अवलम्ब-विशेष है। इस प्रकार अपनेमें अध्यस्त जो अन्तःकरण, उसके भोगका अधिष्ठान अथवा अवच्छेदक जो शरीर, वह अपना शरीर कहा जाता है। उस शरीरके साथ प्रथम क्षणमें गर्भके बाहर देशमें जो सम्बन्ध, उस सम्बन्धको जन्म कहते हैं, ऐसा वेदान्तिओंका लक्षण हुआ।

अवतार :

पहले लेखसे अपने शरीरका जो लक्षण किया गया है, उससे मालूम हो गया है कि जीवका अपना उपभोग-का साधन है तथा अपने पाप-पुण्यसे पैदा हुआ है। ईश्वरका शरीर ऐसा नहीं होता। ईश्वरमें पाप-पुण्य नहीं होता, क्योंकि 'न मे कर्माणि लिम्पन्ति' इत्यादि गीता वचनोंसे ईश्वरमें कर्मका लेप नहीं होता, ऐसा कहा गया है। ईश्वरमें सुख या दुःख नहीं होता, उसका साक्षात्कारस्वरूप भोग भी ईश्वरमें नहीं होता। ईश्वरका कर्म अपने सुख-दुःख भोगनेके लिए नहीं होता। **यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः** इत्यादि भगवद्-गीतावाक्य ईश्वरके कर्मोंका फल लोगोंका अपने कर्ममें प्रवृत्ति कराना है, ऐसा बताते हैं, उपभोग नहीं। इस प्रकार ईश्वरका शरीर जीवके ऐसा अपना शरीर नहीं हुआ, उस शरीरके साथ सम्बन्ध जन्म नहीं कहा जा सकता। अतः ईश्वरके शरीर-ग्रहणको अवतार कहते हैं। ईश्वरके शरीरसे ईश्वरको भोग नहीं होता किन्तु दूसरेको होता है, ऐसा अवतारके प्रकरणमें अवतारका प्रयोजन बताया गया है।

परित्राणाय साधूनां
विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय
संभवामि युगे युगे॥

सज्जनोंकी रक्षाका सुख, पापियोंके विनाशका दुःख, धर्मकी स्थापना आदि अवतारका प्रयोजन बताया गया है। और ग्रन्थोंमें भो अवतारोंका कारण किसी-किसी अत्याचारियोंके अत्याचार तथा किसी-किसीकी बहुत बड़ी तपस्या बतायी गयी है। इन अवतार-प्रकरणोंसे स्पष्ट है कि पापाचारियोंको दुःख और सदाचारियोंको सुख पहुँचाना अवतारका प्रयोजन है। पापका फल दुःख और पुण्यका फल सुख प्रसिद्ध ही है, पापियोंको दुःख भोगना, पुण्यात्माओंको सुख भोगना अवतार-शरीरका फल हुआ, ईश्वरमें कुछ नहीं। कारण खोजनेपर पापियोंका पाप और सत्कर्मियोंका पुण्य कारण मिला, इस प्रकार जीवका शरीर अपने पाप-पुण्योंसे पैदा होता है और अपने सुख-दुःखका भोग कराता है। उस शरीरका सम्बन्ध जन्म है। ईश्वरका शरीर दूसरेके पाप-पुण्योंसे

पैदा होता है और उससे दूसरेको भोग होता है : ऐसे शरीर धारणको अवतार कहा जाता है।

श्री रामावतार में नरलीला वहुत है जिससे जीवका आभास अधिक हो जाता है, वाल्मीकिरामायणमें मैं अपनेको नर मानता हूँ ऐसी रामचन्द्रजीकी उक्ति आगयो है, इसीसे बड़ विद्वान् सहपेणकरजी रामजीको सर्वज्ञ ईश्वर माननेमें हिचकते हैं तथा ईश्वरकी विशेष विभूति मानकर उत्तम पुरुषका समर्थन करते हैं एवं उसीको विजलीके लट्टुओंके दृष्टान्तसे समझानेका प्रयास करते हैं। किन्तु वाल्मीकि रामायण मूलमें अनेक वार रामचन्द्रजी विष्णुके अवतार हैं ऐसा उल्लेख आया है अतः और विद्वान् रामचन्द्रजीको अवतार ही मानते हैं।

जैसे अप्पय दीक्षितजी लिखते हैं कि रामावतारमें सीता-विरह प्रसङ्ग पर रामजीका रोना आदि कार्य अन्य दृष्टिसे है। जैसे कोई अभिनय-निपुण चतुर वालक शोक या वियोगका अभिनय बड़े उत्साहसे प्रसन्नतापूर्वक करता है, कृत्रिम अश्रुधारा चलती है। अनुकरण कौशलसे गद्‌गद स्वरवाला सम्वाद करता हैं, उसको देखनेवाले समझते हैं कि रोता है। कुछ लोग तो उसको देखकर रोने भी लगते हैं। किन्तु अभिनेता बालक वस्तुतः रोता नहीं किन्तु मेरा अभिनय अच्छा हो रहा है ऐसा समझकर खुश होता है तथा और अच्छा अभिनय करूँ इसके लिए सावधानी बरतता है। उसी प्रकार रामचन्द्रजी नहीं रोते थे किन्तु दूसरे लोग रोना देखते थे। इसी दृष्टान्त के अनुसार व्रह्मसूत्रमें **लोक-वत्तु लीलाकैवल्यम्** सूत्रसे भगवान्‌की लीला बतायो गयी है। **न तेऽभवस्येह भवस्य कारणम् विना विनोदं वद तर्कयामहे** इस भागवत पद्यमें विनोद शब्द भी इसी अभिप्रायसे दिया गया है। यद्यपि कोई-कोई अभिनेता नरमें भी रसका आस्वाद मानता है किन्तु नर जहाँ सहृदय होता है, सभी जगह नहीं, जिस रसका अभिव्यञ्जक अभिनय होता है, उसके स्थायिभावकी वासना जिसमें रहती है वह सहृदय कहा जाता है। दृष्टि भेद लोककी इतनी सूक्ष्म है कि एक ही रङ्गशालामें शोकका अभिनय देखकर कुछ लोग रोरहे हैं और दूसरे लोग रोते हुए को देखकर हँसते हैं कि कैसे ये मस्तिकके कमजोर हैं कि झूठा अभिनय देखकर इतना घबराते हैं और रोते हैं। अतः एक-ही वस्तुका भिन्न दृष्टिसे भिन्न परिणाम पाया जाता है।

देखा जाय कि **यं यथा मां प्रपद्यन्ते तं तथैव भजाम्यहम्** ऐसी भगवान्‌की प्रतिज्ञा है। इस समय भी सखिभाव, स्वामीभाव आदि अनेक प्रकारकी उपासना कुछ-कुछ प्रचलित

है। पहले भी अनेक प्रकारकी उपासना हुई होगी, सभीका फल रामावतारसे देना है। एक ही रामचन्द्रजीका शरीर किसीका मित्र, किसीका भाई, तो किसीका पुत्र, किसीका स्वामी किसीका शत्रु है। सभीका भाव उस शरीरसे दिखाना है, वहाँ सर्वज्ञता या निराकारताका उपयोग नहीं, इसलिए सर्वज्ञता तथा निराकारता आदि सबको मालूम नहीं पड़ती। साधारण मनुष्यका काम मालूम पड़ता है। वस्तुतः निराकार सर्वज्ञ रामचन्द्रजी सर्वदा थे। सोचा जाय, कि वे रोये नहीं तो विप्रलम्भ रतिको कैसे दर्शायें? यदि न दिखायें तो उस तरहकी उपासना कैसे सफल हो? भगवान्‌की उपासनाका सफल होना जरूरी है। यदि वे सर्वज्ञता-बलसे सीताकी खोज कर लें तो सुग्रीवकी मैत्री कैसे हो? यदि मैत्री न हो तो सुग्रीवके सञ्चित सखाभावकी उपासना कैसे सफल हो?

नारद-मोहमें भी ऐसी ही भावना है। उससे भी ईश्वरमें पाप-पुण्य अथवा उपभोग सिद्ध नहीं होता। नारदको जितेन्द्रिय तथा कामविजयी होनेका अभिमान हुआ। अभिमान पापका मूल है। कामार्त होना, राजकन्यासे मुग्ध होना इस पापका स्फुट परिणाम हुआ। उससे स्वयंवरमें तिरस्कार पाकर पापका फल दुःख भोगना हुआ। उनमें बहुत बड़ी तपश्चर्या अथवा भक्ति है, उससे बहुत बड़ा यश मिलता है कि भगवान् विष्णुको भी शाप दे सकते हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मोंको सफल करनेके लिए भगवान् विष्णुका कुछ समयके लिए लीला-शरीर हुआ। उससे विष्णुका कुछ नहीं हुआ। नारदजीके कर्मोंसे भगवान्‌का शरीर बना तथा उससे नारदजीको ही भोग मिला।

ईश्वरका शरीर :

अब ईश्वरके शरीरका कुछ लक्षण बनना चाहिए। ईश्वरमें पाप-पुण्य होता तो ईश्वरके पाप-पुण्यसे पैदा हुआ शरीर ईश्वरका शरीर कहा जाता। वैसा पाप-पुण्य ईश्वरमें नहीं है। इसी प्रकार ईश्वरके भोगका अवच्छेदक शरीर ईश्वरका शरीर है, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ईश्वरमें कोई भोग नहीं है। विभु ईश्वरका सभी जीव-शरीरोंके साथ संयोग-सम्बन्ध है। उसको लें तो किसी जीवके शरीरकी उत्पत्तिके समय ईश्वरके अवतारका प्रसङ्ग आ जायगा। ईश्वरके शरीरमें शरीरका भी लक्षण नहीं जाता। 'चेष्टाका आश्रय होना' शरीरका लक्षण है। हितकी प्राप्ति और अहितका परिहारके लिए जो क्रिया है, उसे चेष्टा कहते हैं। ईश्वरका हित या अहित कुछ नहीं है, इसलिए लक्षण नहीं जाता। 'इन्द्रियोंका आश्रय होना' शरीरका दूसरा लक्षण है, सर्वज्ञ ईश्वरका ज्ञान नित्यप्रत्यक्ष है, ईश्वरको

९

इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं। अतः यह भी शरीरका लक्षण समन्वित नहीं होता। कोई-कोई इस प्रकार लक्षण करनेका प्रयास करता है—जिस शरीरसे युक्त परमेश्वर 'विष्णु'पदसे व्यवहृत होता है तथा पालनकर्ता बनता है, वह शरीर विष्णु-शरीर बनता है, इसी प्रकार सृष्टिको लेकर ब्रह्माका शरीर और संहारको लेकर शङ्करका शरीर समझना चाहिए।

इसपर भी अनेक कठिनाइयां व्यक्त की जाती हैं। सभी कार्योंका कारण एक नित्य-यत्न ईश्वरमें नैयायिक लोग मानते हैं। पहले कथनके अनुसार सृष्टि-स्थिति-संहारोंके तीन यत्न ईश्वरमें सिद्ध होने लगेंगे। दिनकरीमें ईश्वरके नित्य-शरीरका खण्डन है। ईश्वरका अनित्य-शरीर जगत्के मध्य आयेगा। यदि शरीरके विना कर्ता नहीं हो सकेगा तो उस शरीरके लिए पृथक् ही एक ईश्वर सिद्ध होने लगेगा। श्री नारायणाचार्य तथा गौडब्रह्मानन्दजी आदि लिखते हैं और शास्त्रोंका वचन प्रमाण देते हैं कि सृष्टि ब्रह्माका, पालन विष्णुका इस प्रकार तीनोंका अलग-अलग कार्य सर्वथा नियत नहीं हैं। कहीं-कहीं शङ्कर पालनकर्ता तथा विष्णु संहारकर्ता हो जाते हैं। अतः इन कार्योंको लेकर ब्रह्मा, विष्णु और शिवका लक्षण अथवा उनके शरीरोंका लक्षण नहीं करना चाहिए।

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये
स्थितौ प्रजायां प्रलये तमस्पृशे।

इत्यादि कादम्बरीकी रीतिसे लक्षण बनाना किसी तरह सांख्य-वेदान्तियोंको शोभा देगा, उससे भी अवतार-शरीरका लक्षण नहीं बन सकता।

फिर भी यत्नसे साक्षात् पैदा होनेवाली, पाप-पुण्यको पैदा न करनेवाली जो क्रिया है, उस क्रियाका आश्रय शरीर ईश्वरका शरीर है—ऐसा लक्षण बनाना चाहिए। यत्नसे शरीरकी क्रिया, और उससे घटादिक्रिया होती है। घटकी क्रिया लेकर घटमें लक्षण न जाय, इसलिए क्रियामें 'यत्नसे साक्षात् पैदा होनेवाली' यह विशेषण दिया गया है। यत्नसे साक्षात् पैदा होनेवाली शरीर-क्रिया है और नहीं। जीव-शरीरकी क्रिया न पकड़ी जाय, इसके लिए 'पाप-पुण्यको न पैदा करनेवाली' ऐसा विशेषण दिया गया है। जीव-शरीरकी क्रिया पाप-पुण्यको पैदा करती है। ईश्वर-शरीरकी क्रिया पाप-पुण्यको पैदा नहीं करती। इसलिए ईश्वर-शरीरकी हो क्रिया ऐसी मिलेगी। इतनेपर भी जीवन्मुक्त जीव-शरीरमें भी लक्षण चला जायगा। जीवन्मुक्त ईश्वरके अर्पणबुद्धिसे कर्म करता। उससे कुछ पाप-पुण्य पैदा नहीं होता, अतः जीवन्मुक्तकी क्रिया पाप-पुण्यको पैदा करनेवाली नहीं है। इसलिए पाप-पुण्यको न पैदा करनेवालीकी

जगह 'पाप-पुण्यके साथ न रहनेवाली' ऐसा विशेषण देना चाहिए। जीवन्मुक्त में भी प्रारब्ध-कर्म रहता ही है। इसलिए पाप-पुण्यके साथ है। यद्यपि क्रिया शरीरमें और पाप-पुण्य आत्मामें हैं तो भी किसी सम्बन्धसे एक साथ किया जा सकता है। उसके लिए शब्द अभी हिन्दीमें प्रचलित नहीं हैं।

इतनेपर भी परमाणुकी क्रिया वैसी हो जायगी। परमाणुओंकी क्रिया ईश्वरयत्नसे साक्षात् जन्य है। परमाणु अथवा ईश्वरमें पाप-पुण्य नहीं होता, इससे परमाणुमें ईश्वर-शरीरकी आपत्ति होगी। इसपर उदयनाचार्यजी न्यायकुसुमाञ्जलिमें इष्टापत्ति कह दिये यदि परमाणुमें ले जाना सर्वथा अभीष्ट न हो तो 'अवयवीमें रहनेवाली' ऐसा क्रियाका विशेषण देनेसे काम चल जायगा। इतना ध्यान देना चाहिए कि उपनिषदोंमें पृथ्वी आदि सभीको शरीर लिखा है। वह वर्णन अवतार शरीरके लक्षणमें उपयोगी नहीं है। उसके अनुसार तो विशिष्टाद्वैतमें जड़-चेतन सभीको ईश्वरका शरीर माना गया है। वह यहाँ नहीं लिया जाता। यहाँ जो अवतार-शरीरका लक्षण किया जा रहा है, वह नया है उसका वर्णन अभी दूसरी जगह नहीं है।

देवकीके गर्भमें भगवान्का अवतार हुआ, ऐसा व्यवहार होता है। अतः ईश्वर-शरीरके लक्षणमें गर्भके वाहर देशमें ऐसा कहनेकी जरूरत नहीं है। अवतारमें भी तीनों कालोंका व्यवहार होता है, अतः 'प्रथम क्षणमें' ऐसा विशेषण देना पड़ेगा।

अदृष्ट (पाप-पुण्य) के साथ न रहनेवाले यत्नसे साक्षात् पैदा होनेवाली, अदृष्टको पैदा न करनेवाली, अवयवीमें रहनेवाली, प्रथम क्षणवाली जो क्रिया है, उसका आश्रय ईश्वर-शरीर है ऐसा लक्षण सम्पन्न हुआ। ऐसा ईश्वरका शरीर अनित्य है और जीवके उपभोगके लिए बनता है। वह इन्द्रियोंका आश्रय भी हो तो उसमें कोई हानि नहीं है। उससे जीवका ही उपभोग होता है, ईश्वरका नहीं।

जो अनीश्वरवादी सांख्य है जिसके मतमें पुरुष-चैतन्यसे भिन्न कोई ईश्वर-चैतन्य नहीं है, उसके मतमें भी पहले वर्णनके अनुसार जीवोंके पाप-पुण्योंसे बहुत ऐश्वर्यशाली बुद्धितत्त्व प्रकट होता है। उस बुद्धितत्त्वसे उपहित चेतन ईश्वर है, वह जब शरीर धारण करता है तो 'अवतार' कहा जाता है। उसकी उपासना जीव करते हैं और शुभ फल प्राप्त करते हैं। सांख्य ज्ञानी और मीमांसक भी राम-कृष्णकी उपासना करते हैं। दार्शनिक अनीश्वर-वादका दूसरा तात्पर्य है। इसी प्रकार वेदान्तका मायोपहित चैतन्य जीवोंके पाप-पुण्योंसे बहुत बड़ा ऐश्वर्यवाला अन्तःकरण अपनाता है और उसीसे अधिष्ठित शरीरको अवतारका शरीर

कहते हैं। जितनी उपाधियाँ हैं, वे सब ब्रह्मसे छोटी हैं। ब्रह्म अपरिमेय है। किसी भी उपाधिमें पूर्ण ब्रह्मका प्रतिबिम्ब या आभास अथवा परिच्छेद नहीं हो सकता। अतः सभी अंशावतार ही हैं, पूर्णावतार नहीं हो सकते। अंशावतारमें ही सामर्थ्यका तारतम्य हो सकता है। अंशावतार या पूर्णावतारकी दार्शनिक दृष्टिमें स्थिति नहीं है। यद्यपि श्रीमद्भागवतमें—

अन्ये चांशकलाः प्रोक्ताः
कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

कहा गया है तो भी कृष्णावतार प्रसङ्गमें अनेकवार 'अंश' शब्दका प्रयोग आया है।

क्या ईश्वर नहीं और उसकी खोज पूरी हो गयी?

तुम्हारे पास आकर कोई कहे कि 'मैं ईश्वरको नहीं मानता' तो उससे पूछो : कि 'ईश्वर नहीं है, इसकी जानकारी कैसे हुई ?'

उससे यह भी पूछो कि 'जगत्के कण-कणमें और तुम्हारे जीवनके क्षण-क्षणमें तुमने ईश्वरकी पूरी खोज की है ?'

ऐसा कोई माईका लाल न मिलेगा जो इसका जवाब 'हाँ' में दे सके।

वह यही कहेगा : 'नहीं, खोज पूर्ण नहीं हुई, वह जारी है।'

यदि वह ऐसा कहे तो तुम उससे कहो : 'अन्वेषण या शोध पूर्ण किये बिना कोई भी अभिप्राय देना मूर्खता है।' यदि वह कहे कि 'ईश्वरकी शोध वह पूर्णरूपसे नहीं कर पाया, पर किसीके कहने या लिखा हुआ पढ़नेपर ऐसा मानता हूँ' तो उससे तुम कहो 'यह बड़ी अन्धश्रद्धा है। दूसरेके कहनेपर चलना ठीक नहीं। तुम स्वयं ही शोध करके निश्चय करो। स्वयं ही अपनी आत्माको चीरकर देखो कि वह मर गयी या नहीं ?'

मुझे निश्चय है, ऐसी खोज वह कर ही नहीं सकेगा।

और इसीलिए यह भी मुझे निश्चय है कि नास्तिकता सिद्ध हो सकनेवाली नहीं।

'ईश्वर है' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण और कहीं भी ढूँढ़ने जानेका नहीं। हम स्वयं ही उसका चलता–फिरता प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

ऐसे प्रमाणरूप बनकर हम अपने वर्तन और जीवन द्वारा जगत्को ईश्वरकी प्रतीति और प्रत्यक्ष दर्शन करा सकें, यही हमारी उपासनाकी, आराधनाकी और भक्तिकी सार्थकता है। (अ० सरस्वती)

माया एवम् अविद्याका स्वरूप

प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य

अनुवादक : श्री 'विष्णु'



(गतांक से आगे)

६. श्री शंकराचार्यके मतमें माया एवं अविद्याका स्वरूप

श्री शंकराचार्य प्रथम आचार्य थे जिन्होंने उपनिषदोंमें वर्णित वेदान्त-सिद्धान्तको एक व्यवस्थित दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया, उसका आधार था श्री गौड़पादाचार्यद्वारा प्रदत्त सिद्धान्त-दृष्टि। जब हम स्मरण करते हैं कि श्री शंकरको श्रुतिका प्रामाण्य[1] कितना अधिक मान्य था, यहाँ तक कि वे प्रत्यक्षको भी अस्वीकार करनेको तैयार थे—यदि वह श्रुत्यार्थके विरोधमें खड़ा होता हो, तो हमें कहना ही पड़ता है कि श्री शंकरने वास्तवमें श्रुतिके विरोधी-से अर्थोंको समन्वित करनेमें अपूर्व साहसका परिचय दिया। क्योंकि इन सबमें भी वे आस्तिकताकी सीमाओंसे बाहर नहीं गये, जैसे कि बौद्ध-बन्धु चले गये थे। जब कि ब्रह्मसूत्र तकने श्रुति-विरोधको श्रुतिसे ही सुलझानेका[2] प्रयत्न किया, केवल शांकर-वेदान्त ही ऐसा रहा है जिसने प्रत्येक श्रुत्यर्थको अन्धवत् स्वीकार नहीं किया, अपितु उसके स्पष्टार्थ, युक्ति एवं तर्कका आश्रय लिया। सम्भवतः इसीलिए वे श्रुत्यर्थको एक दार्शनिक पृष्ठ-भूमिमें दृढ़तासे स्थापित कर सकें। श्री शंकरका कहना है कि 'जहाँ श्रुतियोंमें विश्वके मूल-आदिके बारेमें कथन है, वहाँ अनुमान विहित है, यदि वह श्रुतिके तात्पर्यको पुष्ट करनेमें सहायक है। श्रुति स्वयं अपने सहायकके रूपमें तर्ककी अनुमति प्रदान करती है।'[3] एक सच्चे

१. देखिये ब्रह्मसूत्र भाष्य १.१.४;२.१.२७।

२. ब्रह्मसूत्र २.१.२७।

३. ब्रह्मसूत्र भाष्य १.१.२।

दार्शनिक होनेके नाते उन्हें शास्त्रोंके अर्थको तर्ककी कसौटीपर कसना पड़ा, यद्यपि इस कार्यमें उन्होंने श्रुतिके विरुद्ध किसी अर्थको स्वीकृति नहीं दी। सम्भवतः इसी कारण अन्य घोर आस्तिक दार्शनिकोंने उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहकर उनकी निन्दातक की। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय दर्शनके वाङ्मयमें श्री शंकरका अद्वितीय स्थान है और शांकर-दर्शनको हम उपनिषदोंका सर्वाधिक युक्तियुक्त दर्शन कह सकते हैं।

श्रुति कहती है : 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'वह तू है'। यहाँ व्यष्टि आत्मा (जीव) की परब्रह्म परमात्मासे पूर्ण एकता बतायी गयी है। इधर शांकर-मतमें ब्रह्म मूलतः निर्गुण, निष्क्रिय, निरवयव, निरुपाधिक तथा निर्विशेष है। यहाँतक कि सत्, चित् और आनन्द भी न तो ब्रह्मके गुण हैं और न ब्रह्मसत्तामें किसी भेदका स्थापन करते हैं। इनका सरल अर्थ शुद्ध सत्ता, शुद्ध चित्ता तथा शुद्ध आनन्द है। जो सत् है, वही चित् है और जो सत्-चित् है वही आनन्द है।[1] अब जीव ब्रह्मसे ठीक विपरीत है। तब जाव और ब्रह्म एक कैसे हो सकते हैं?

पुनश्च, ब्रह्मको नित्य परिवर्तनशील प्रवाहरूप जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण बताया गया है।[2] तब इस श्रुतिवाक्यका कि 'सब भूत ब्रह्मसे ही उत्पन्न होते हैं, ब्रह्मसे ही स्थित हैं तथा ब्रह्ममें ही लय होते हैं' क्या अर्थ हो सकता है? निरुपाधिक ब्रह्मका सोपाधिक जगत्से (जिसमें व्यष्टि जीव भी सम्मिलित हैं) कोई सम्बन्ध कैसे हो सकता है? शङ्कराचार्य कहते हैं कि यह असम्भव बात किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकती।[3] और अन्तमें यही कहना होगा कि जगत् न है, न कभी था और न भविष्यमें कभी होगा। केवल मात्र सत्ता जो है वह ब्रह्म है; ब्रह्मातिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं।[4] फिर ब्रह्मके सर्वगतत्व का क्या अर्थ होगा? जब यह कहा जाता है कि ब्रह्म सर्वगत है तब क्या इसका यह अर्थ नहीं होता कि ब्रह्मके अतिरिक्त किसीकी भी सत्ता नहीं है? ब्रह्मकी पूर्ण व्यापकताका अर्थ यही है कि तथाकथित व्याप्य वस्तु सत्ता-शून्य है, क्योंकि व्याप्य वस्तुका कोई लक्षण अथवा रूप व्यापक वस्तुके लक्षण तथा रूप से भिन्न नहीं हो सकता। यह कहना कि 'क' सर्वांशमें 'ख' के द्वारा व्याप्त है, इसी बातको दूसरे शब्दोंमें कहना है कि 'क' वही है जो 'ख' है। इस कथनका

---

१. देखिये तैत्तिरीय भाष्य, ब्रह्मवल्ली, १।
२. देखिये ब्र० सू० १.१.२,१.४.२३।
३. देखिये ब्र० सू० भाष्यका प्रथम वाक्य।
४. देखिये माण्डूक्य-कारिका भाष्य १.१७।

कोई अर्थ ही नहीं हैं कि 'क' 'ख' से भिन्न भी है तथा सर्वांशमें 'ख' के द्वारा व्याप्त भी है।[1]

परमार्थ सत्य ब्रह्म-सत्तामें देश-काल-वस्तुरूप जगत्का अत्यन्ताभाव मानना स्वयंमें श्रुति और अनुभवके विरोधको दूर करनेकी एक युक्ति है। परन्तु क्या इसका अर्थ श्रुतिको तर्कके क्षेत्रमें घसीटना नहीं हुआ? शंकरके मतमें श्रुतिका महत्त्व इसकी युक्तियुक्ततामें नहीं है, अपितु इसके प्रामाण्यमें है यदि श्रुतिकी प्रामाणिकताका आधार केवल युक्तियुक्तता हो हो, तो श्रुतिको ज्ञानका स्वतन्त्र प्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। वास्तविकता यह है कि श्रुति वह ज्ञान प्रदान करती है, जो किसी अन्य प्रमाणसे उपलब्ध नहीं होता, और इसी प्रमाणमें उसकी एकमात्र सार्थकता है। फिर भी जबतक हम युक्ति और तर्कके दास हैं, तबतक श्रुतिकी निरपेक्ष प्रामाणिकता हमको जँचती नहीं है;[2] अतएव विरोधका युक्तियुक्त परिहार आवश्यक है।

यहाँ इस बातकी आवश्यकता नहीं कि पूर्व और पश्चिमके यथार्थवादियों, आदर्शवादियों और विशिष्टाद्वैतियोंकी उन युक्तियोंके दोष बताये जायं, जिनसे वह पारमार्थिक सत्ता तथा व्यावहारिक जगत्का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। हाँ, यह ठीक है कि शङ्करको विरोध-परिहारकी युक्तिमें एकताके परिप्रेक्ष्यमें अनेकता व्यावहारिक रूपसे स्वीकृत है। परन्तु वह इसलिए है कि एकतासे अनेकताके विकासको बतानेके लिए हमें प्रारम्भसे ही अपने अनेकताके अनुभवको झुठलानेकी आवश्यकता नहीं है। प्रारम्भमें हम इसको आनुभाविक तथ्यके रूपमें स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु (विचारके अन्तमें) जब हम इसकी वास्तविकताको सिद्ध करनेमें स्वयंको असफल पाते हैं, तब श्री शङ्करके सिद्धान्तसे ही एकमत हो जाते हैं।

परम सत्य और व्यावहारिक सत्यमें कोई सत्य-सम्बन्ध शक्य नहीं है।[3] फिर भी जब एकको दूसरेका उद्गम या अधिष्ठान कहा जाता है तो किसी-न-किसी प्रकारका सम्बन्ध मानना ही पड़ता है। इसी सम्बन्धको शङ्कर अध्यास[4] से लक्षित करते हैं। अध्यास मानो पारस्परिक विपरीतता या विरोधका सिद्धान्त ही है—आत्मा और अनात्माका विराध, अहं तथा निरहम् का विरोध, साक्षी-

१. देखिये ब्र० सू० भाष्य १.३.१।
२. वही, २.१.२७।
३. देखिये ब्र० सू० भाष्य-भूमिका।
४. देखिये गीता-भाष्य १३.२६।

साक्ष्यका विरोध, कार्य-कारणका विरोध, ब्रह्म और जगत्का विरोध! वैसे सच्चा विरोध तो विरोध ही है, उसका परिहार कभी सम्भव नहीं है, परन्तु सभी ज्ञानानुभावोंमें तो विरोध सम्मिलित रहता है और कोई भी अनुभव तबतक सम्भव नहीं जबतक वे विरोध किसी-न-किसी प्रकारसे समन्वित न हों। सम्बन्धका अर्थ ही सम्बन्धियोंमें भेद, विपरीतता तथा विरोधका सूचक है। जो सम्बन्ध-शून्य है, वह अनुभवका विषय नहीं हो सकता। अतः अध्यास प्रतीयमान विरोधों तथा विपरीतताओंके समन्वयका सिद्धान्त है और इस रूपमें वह ख्याति और परिभाषाके क्षेत्रसे बाहर है; दूसरे शब्दोंमें अनिवर्चनीय है। अध्यास विरोधी-वस्तुओंके तादात्म्य-सम्बन्धका सिद्धान्त है। अर्थात् यह वह सिद्धान्त है जिसके द्वारा वस्तु वह प्रतीत होती है जो वह नहीं है। कोई रज्जुको सर्पवत् ग्रहण करता है—यह अध्यास है। सर्पत्वका रज्जुपर अध्यारोप है। कोई ब्रह्मको जीववत् ग्रहण करता है—यह अध्यास है। कोई ब्रह्मको जगत्‌रूपमें ग्रहण करता है—यह अध्यास है। इतना ही नहीं, रज्जुको रज्जुवत् ग्रहण करना भी अध्यास है, क्योंकि वस्तु रज्जुस्वरूपमें अज्ञात और अज्ञेय ही है, केवल रज्जुत्व-धर्म उस वस्तुपर अध्यारोपित सम्बन्धोंका समुच्चयमात्र है। वास्तवमें एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं हो सकती और अध्यासकी कोई आवश्यकता नहीं है।[1] यह मनुष्यका स्वभाव ही है कि वह इस प्रकारके अवांञ्छनीय तादात्म्य-सम्बन्ध स्वीकार करता है। अतः कोई कारण नहीं कि अध्यास-सिद्धान्त अस्तित्वमान् रहे, परन्तु सभी मानवी व्यवहारोंके लिए यह परम आवश्यक भी है।[2] यह वह नियम है जो हमारे सब कर्मोंका, गतियोंका नियमन करता है। जी हाँ, यह वह नियम है जिसने जगत्को वर्तमान रूप प्रदान किया है।

शंकर कहते हैं कि वस्तुतः अध्यास सत्यका मिथ्याके साथ तादात्म्य सम्बध है।[3] प्रत्येक ज्ञानमें सत्यका असत्यके साथ तादात्म्य होता है तथा प्रत्येक अनुभवमें चाहे वह विषयनिष्ठ हो या विषयिनिष्ठ हो—साक्षीका विषयसे तादात्म्य होता है।[4] परन्तु वास्तविकता यह है कि साक्षी कभी विषय नहीं हो सकता। दो विरोधी वस्तुओंका तादात्म्य तभी सम्भव हो सकता है जब उनमेंसे एक मिथ्या हो, क्योंकि यदि दोनों सत्य (तथा विरोधी) होंगे तो उनमें तादात्म्य

१. देखिये ब्र० सू० भाष्य-भूमिका।
२. वही (ब्र० सू० भाष्य १. ४. ३ भी देखिये)।
३. वही।
४. देखिये : वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्ष।

सम्भव नहीं है। दोनों ही मिथ्या भी नहीं हो सकते, क्योंकि तब कोई ज्ञानानुभव ही सम्भव न होगा। साक्षी मिथ्या हो नहीं सकता, क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें वह विद्यमान रहता है, जब कि विषय तीनों अवस्थाओंमें विद्यमान नहीं रहते और अपने अनुभव-कालमें भी वे साक्षी पर ही निर्भर रहते हैं। अतः (परिशेष-न्यायसे) विषयको ही मिथ्या मानना चाहिए।[1]

अध्यासकी इस परिभाषाके विरुद्ध एक आपत्ति यह उठायी जाती है कि यह परिभाषा ज्ञानाध्यासपर लागू नहीं होती; क्योंकि वहाँ यद्यपि विषय मिथ्या है तथापि विषयज्ञान साक्षी चैतन्यके स्वभावका ही होनेके नाते मिथ्या नहीं हो सकता। अर्थाध्यासमें सत्य सीपीका मिथ्या रजतके साथ तादात्म्य होता है, परन्तु ज्ञानाध्यासमें साक्षीको अपना रजतसे भेद ज्ञात रहता है तथा वहाँ यह ज्ञान होता है कि 'मैं रजतको जानता हूँ' न कि यह कि 'मैं रजत हूँ'। अब जिस प्रकार विषयके सत्य होनेपर उसका ज्ञान भी मिथ्या नहीं माना जाता उसी प्रकार विषय ज्ञानके सत्य होनेपर विषयको भी मिथ्या नहीं माना जाना चाहिए। भ्रम-ज्ञान तो वही हो सकता है जहाँ विषय और विषय ज्ञान दोनों ही मिथ्या हों। बाधका तात्पर्य भी बाधित वस्तु और उसके ज्ञानके मिथ्यात्वमें ही है। किसी पूर्व ज्ञानका किसी अन्य उत्तर ज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-निश्चय करना बाध कह-लाता है। बाधज्ञानका रूप इस प्रकारका होता है कि 'यह सीपी है, रजत नहीं है' तथा 'रजत-ज्ञान मिथ्या था।' इसका अर्थ यह है कि बाधज्ञान द्वारा विषय और विषय-ज्ञान, दोनोंका ही मिथ्यात्व-निश्चय होता है। अतः यह कहना उचित नहीं है कि अध्यासमें सत्यका मिथ्याके साथ तादात्म्य होता है।

ऐसी आपत्तियोंका उत्तर देनेके लिए ही शंकर अपनी परिभाषाको निम्न व्याख्यासे अलंकृत करते हैं: 'किसी पूर्वानुभूत वस्तुके उससे भिन्न आश्रयमें अध्यारोपित ज्ञानको 'अध्यास' कहते हैं। यह ज्ञान स्मृति-ज्ञान जैसा तो है परन्तु स्मृति नहीं है।' अतः शंकर भ्रमज्ञानकी स्मृतिसे तुलना करते हैं जिससे यह संकेत मिलता है कि अर्थाध्यास भी अनुभवज्ञानपर ही आधारित है। भ्रमका विषय (जैसे रजत) अनुभव-ज्ञानके (शुक्तिरूप आश्रयके ज्ञान) समकाल ही उत्पन्न होता है और इसी तथ्यपर भ्रम आधारित है।[2] अतः चाहे अध्यास

---

१६. इस सम्बन्धमें नारायण सरस्वतीका विवरण उनके 'वार्तिक' में देखिए (कलकत्ता संस्कृत सीरीज, खण्ड १, पृ० ११९)

१७. देखिये : सिद्धान्तलेश-संग्रह, सकारणाध्यास-विचार।

ज्ञानाध्यास हो किंवा अर्थाध्यास हो, सत्यका मिथ्याके साथ सम्बन्ध सदैव ही उपस्थित रहता है।[१]

तत्पश्चात् श्री शंकर अन्य दार्शनिकोंद्वारा दो गयी अध्यासकी कुछ परिभाषाएँ[२] उद्धृत करते हैं और अन्तमें यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सभी विचारकोंके मतमें एक वस्तुका दूसरी वस्तुपर अध्यारोपण अध्यास है।[३]

जब अध्यासको 'साक्षीका विषयके साथ तादात्म्य' के रूपमें परिभाषित करते हैं तो एक कठिन प्रश्न उपस्थित होता है कि 'क्या यह तादात्म्य सम्भव भी हो सकता है?' यह तो स्वीकार करना ही चाहिए कि साक्षी और विषय प्रकाश और अंधकारकी भाँति परस्पर विपरीत हैं। फलतः एकका दूसरेके साथ तादात्म्य कभी संभव नहीं है।[४] साक्षी और विषयके तादात्म्यके लिए दोनोंका पूर्वज्ञान आवश्यक है। परन्तु यह ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो किसी वस्तुका अन्यथारूपमें ज्ञान होगा। पुनः ज्ञानका कभी निषेध नहीं किया जाता। भ्रमज्ञानमें भी यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि ज्ञान नहीं हुआ। किसी ज्ञानको हम तभी मिथ्या कहते हैं जब वह वस्तु मिथ्या सिद्ध हो जाती है।[५] शंकर इस सिद्धान्तसे भलीभाँति परिचित हैं कि विषय और साक्षीमें वास्तविक तादात्म्य संभव नहीं है। वह अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्यको इसी असम्भावनासे प्रारम्भ करते हैं। उनके मतावलम्बी भी यह भलीभांति जानते हैं कि अध्यास तर्कसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। फिर भी सम्पूर्ण अद्वैत-वेदान्तदर्शन इसी अध्यासके मूलभूत सिद्धान्तपर आधारित है। वास्तविकता यह है कि अद्वैतियोंको इस बातसे प्रसन्नता होती है कि अध्यास युक्ति-साध्य नहीं।[६] वे स्पष्ट घोषणा

१. इस सम्बन्धमें यह दृष्टव्य है कि वार्तिककार तीन प्रकारके भ्रमोंकी चर्चा करते हैं : (१) अनुभवज्ञानपर आधारित जैसे शुक्तिकामें रजत; (२) अविद्यापर आधारित जैसे ब्रह्ममें जगत; (३) अनुभव तथा अविद्या दोनों पर आधारित, जैसे अनुमानिक भ्रम।

२. पूर्ण विवरणके लिए देखिये : 'भामती'।

३. ब्र० सू० भाष्य-भूमिका (और भी देखिये : सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसंग्रह २९७, ४९७)।

४. यह विपरीतता केवल तादात्म्यमूलक है परन्तु इसका यह आशय नहीं कि वे दोनों (साक्षी और विषय) एक आश्रयमें स्थित नहीं हो सकते।

५. देखिए वार्तिक (C. O. S.) पृ० ८७।

६. वही, पृ० ९८।

करते हैं कि यद्यपि अध्यास-सिद्धान्त तर्कपर खरा नहीं उतरता, तथापि आनुभविक तथ्यके रूपमें इसके अस्तित्वका अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अध्यासका निषेध करनेका अर्थ अपने सामान्य अनुभवको मिथ्या करना है। वस्तुतः अनुभव ही शून्य हो जायगा, यदि आत्माका अनात्माके साथ तादात्म्य न हो, भले ही यह तादात्म्य एक तार्किक असंगति हो।

इस प्रकार अध्यास-तथ्यकी स्थापनाके बाद शंकर कहते हैं कि अध्यास अज्ञानजन्य है।[1] यह सत्य है कि अज्ञान या अविद्यासे ही कोई वस्तु अन्यथा-रूपसे ग्रहण होती है। 'अप्पय दीक्षित' ने अपने 'सिद्धान्तलेश संग्रह', १ अध्यायमें यह निःशेषतः सिद्ध कर दिया है कि अध्यासके मूलमें अज्ञान है। यों श्री शंकरने इस बातकी सविवरण चर्चा नहीं की। उन्होंने तो अज्ञान, अविद्या और अध्यासके केवल प्राथमिक सिद्धान्त भर बताये हैं, परन्तु उनके उत्तराधिकारियोंने उनकी विशद विवेचनाकी है। यह भी स्मरणीय है कि श्री शंकरके उत्तराधिकारी अज्ञानका ऐसा कोई भी अतिरिक्त लक्षण ढूंढ़ नहीं पाये जिसका संकेत श्री शंकरने पहिलेसे ही न कर रखा हो। उन्होंने तो केवल आचार्यद्वारा प्रतिपादित अज्ञानके लक्षणोंकी यथातथ्य अधिक स्पष्ट व्याख्याभर ही की है। श्री शंकरका प्रतिपाद्य यह सिद्ध करना था कि जगत्की प्रतीति केवलमात्र अज्ञानजन्य अध्यास है। अतः उन्होंने अज्ञानकी उतनी ही व्याख्या की जितनी इस लक्ष्यके लिए आवश्यक थी। उनके उत्तराधिकारियोंने शंकरके अध्यास-सिद्धान्तकी मीमांसा की और उसे वह तर्कयुक्त आधार दिया जो अद्वैतके विपक्षियोंकी आपत्तियोंके सामने ठहर सके। इससे एक अतिरिक्त लाभ यह भी हुआ कि शांकर-अध्यास-सिद्धान्तके गूढ़ और महत्त्वपूर्ण अर्थ भी प्रकाशमें आगये।

यहाँ हम आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित अज्ञानके मुख्य लक्षणोंका वर्णन करते हैं। यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि श्री शंकरके मतमें व्यष्टि-अज्ञान तथा पारलौकिक अज्ञान (माया) में कोई भेद नहीं है। उनके लिए यह एक ही वस्तु-तत्त्वके दो विभिन्न दृष्टिकोण हैं। फलतः उन्होंने अज्ञानके लिए विभिन्न शब्दोंका प्रयोग किया है। ब्रह्मसूत्रभाष्य १.४.३ में वे कहते हैं कि बीजशक्ति, अविद्या, अव्यक्त, आकाश, अक्षर, माया और महासुषुप्ति पर्यायवाची शब्द हैं। इनके अतिरिक्त वे निम्न शब्दोंका भी प्रयोग करते हैं :

---

१ सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसंग्रह ५०, २९९, ५०९।

अज्ञान, प्रकृति, शक्ति[1], अध्यास, संवृति[2], ईर्ष्या[3], नामरूप बीजशक्ति, भूतसूक्ष्म[4]।

इस प्रकार आचार्य अविद्या या अज्ञानकी परिभाषा इस प्रकार देते हैं : 'अज्ञान एक भावरूप सिद्धान्त है जो (सत्त्व, रजस् तमस्) तीन गुणोवाला है; इसको न हम वास्तविक कह सकते हैं और न अवास्तविक; यथार्थ ज्ञानसे इसका नाश हो सकता है।[5]'

'अविद्या वह असत् है जिसका सन्तोषपूर्ण कारण नहीं बताया जा सकता। आत्मा स्वयं इसका आश्रय और विषय है। यह आत्माके द्वारा ही जानी जाती है तथा उसके द्वारा ही प्रकट होती है। जिस प्रकार कक्षके भीतर का अन्धकार कक्षके भीतरी भागका आवरण कर देता है, उसी प्रकार अविद्या चेतन कूटस्थ आत्माका आवरण कर विक्षेपित कर देती है।'[6]

'अविद्या अनेकताको समझनेके लिए एक सिद्धान्त है, क्योंकि सभी उपाधियोंमें अनेकता (भेद) ही मुख्य लक्षण है।[7] अविद्या वह है जो अनेकता प्रस्तुत करती है।'[8]

शंकराचार्य जगत्-प्रतीतिको अज्ञानका कार्य मानते हैं। परन्तु भ्रमज्ञानके लिए भी उसके पूर्वज्ञानकी आवश्यकता है। अब यदि सभी अनुभव भ्रमज्ञान मान लिये जायँ जैसा कि शंकर मानते हैं, तो अज्ञान अनादि हो जाता है।[9]

जहाँ तक अज्ञानके आश्रय और विषयका सम्बन्ध है शंकर आत्माको ही

---

१. सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसंग्रह, ३०५

२. माण्डूक्य-कारिका-भाष्य ४.३७। वस्तु-जगत्को यहाँ संवृति कहा गया है। बौद्ध भी इस शब्दको इसी अर्थमें प्रयोग करते हैं। देखिये : 'अध्यास भाष्य' पर 'पंचपादिका।'

३. सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसंग्रह, ३११।

४. ब्र० सू० भाष्य १.२.२२।

५. सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसंग्रह ३०२, ३०५, ३०७; ब्र० सू० भाष्य २.२.२७, तत्त्वोपदेश ५१-५२, १११।

६. अज्ञानबोधिनी, ६,

७-८. कठ० भाष्य ४.१०-११।

९. देखिये : ब्र० सू० भाष्य-भूमिका; तथा ब्र० सू० भाष्य २.१.३६, गीता-भाष्य १३.१९

अज्ञानका आश्रय और विषय मानते हैं।[1] यद्यपि अज्ञान ब्रह्मके आश्रित है, तथापि यह नहीं मान लेना चाहिए कि अज्ञान ब्रह्मके स्व-भावमें है। 'अविद्या आत्माका स्वाभाविक गुण नहीं है, क्योंकि ज्ञानकी वृद्धिसे अज्ञान कम हो जाता है; तथा जब ज्ञान सार्व और सम्पूर्ण हो जाता है तो आत्मत्व (ब्रह्मत्व) स्थापित हो जाता है। अविद्याका सम्पूर्णतः ध्वंस हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रज्जुको रज्जु अनुभव कर लेनेपर उसमें प्रतीयमान सर्पका ज्ञान (अविद्या) ध्वंस हो जाता है। अतः अविद्या आत्माका स्वाभाविक गुण नहीं हो सकता, क्योंकि स्वाभाविक गुणका कभी नाश नहीं हो सकता।'[2] ब्रह्ममें अविद्याके इस प्रकार आश्रित होनेसे वह ब्रह्मके स्वरूपमें कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं कर सकती, क्योंकि अविद्या स्वयं अवास्तविक है।[3]

(क्रमशः)

१. अज्ञानबोधिनी, ६।
२. बृहदारण्यक-भाष्य ४.३.२०।
३. सर्ववेदान्त-सिद्धान्त संग्रह २०३, ४६४।

सन्ध्या-वन्दन अखण्ड

वे कहीं भी सत्संग-प्रवचन करते थे तो सन्ध्योपासनाका समय अवश्य बचा लेते थे। एक दिन उन्होंने बतलाया कि 'जबसे मैंने यज्ञोपवीत ग्रहण किया है, तबसे अबतक (लगभग पचास वर्षमें) कभी सन्ध्योपासनमें अन्तर नहीं पड़ा। यथाशक्ति कालातिक्रमण भी नहीं किया, कर्मातिक्रमणकी तो बात ही क्या है! जल न मिलनेपर बालूसे अर्घ्य दिया। ट्रेनमें होनेपर समयपर मानसिक करके बादमें क्रियारूपसे भी कर लिया। सन्ध्या-वन्दन एक नित्यकर्म है। इसके न करनेपर प्रत्यवाय लगता है। द्विजातिका यह अवश्य कर्तव्य-धर्म है। सूतक-पातकमें भी निर्जल और निर्माल्य सन्ध्या होती है।'

अपने धर्मका यह अपूर्व निर्वाह उनकी दृढ़निष्ठाका ही सूचक है।

(म० श्री०)

अपने दिलपर रहम कीजिये

★ डॉ० राबर्ट ह्वीलर

डॉक्टर बर्नार्डने जबसे हृदय-प्रत्यारोपणका ऑपरेशन किया है तबसे दिल आम चर्चाका विषय बन गया है। दिलको लेकर पिछले दस वर्षोंमें अनेक खोजें हुई हैं। यहाँतक कि नकली दिल भी बनकर तैयार हो चुके हैं। कमजोर दिलको चलानेके लिए तरह-तरहकी बैटरियाँ भी बनी हैं। बिगड़े हुए दिलोंके सुधारनेके लिए दिलके हिस्से और वाल्व भी तैयार किये गये हैं। साथ ही दिलके रोगोंमें भी काफी खोज-बीन और उपचार ढूंढ़ निकाले गये हैं। लेकिन यह सब हुआ क्यों? इसका जवाब है कि दिलके प्रति बरती गयी हमारी उपेक्षा!

धड़कन जिन्दगी है

दिल और दिमाग ही शरीरके दो ऐसे यन्त्र हैं जिनसे हम जीवन जीते हैं। दिल हमारे शरीरमें रक्तका परिसंचालन करता है। हमारे जीवनको धड़कनें देता है। ये धड़कनें उस समयसे चालू होती हैं जब हम जन्म लेते हैं और तभी बन्द होती हैं जब कि हम मर जाते हैं। अतः कितना महत्त्वपूर्ण है हमारा हृदय!

अमरीकाके हृदयरोग-विशेषज्ञोंका कहना है कि हृदय-रोग हमारे समयका एक तरहसे 'छूत' रोग है। यह सच है, क्योंकि दुनियाभरमें यह रोग छूतके रोगकी तरह तेजीसे बढ़ा है। अमरीकाके डॉक्टरोंका कहना है कि सारे अमरीकामें सन् १७७६ से लेकर अबतक हुए महायुद्धोंमें जितने लोग मारे गये हैं, उनसे कहीं अधिक लोग केवल हृदय-रोगसे मरे हैं।

यद्यपि हम अमरीकाकी तरह औद्योगिक रूपसे विकसित एवं समृद्ध नहीं हैं, इसलिए हृदय-रोग हमारे यहाँ इतने नहीं बढ़े; तथापि हम जैसे-जैसे औद्योगिक विकासकी ओर बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे हृदय-रोग भी हमारे यहाँ बढ़ रहे हैं। पिछले अठारह वर्षोंमें हृदय-रोगसे मरनेवाले दो सौ बीस प्रतिशतकी संख्यामें बढ़े हैं।

हृदय-रोग होते क्यों हैं?

हृदय-रोग होते क्यों हैं? कैसे होते हैं? इस विषयमें सन् १९६१ में

हार्वर्ड विश्वविद्यालयके डॉक्टर फ्रेड्रिक स्टारे और ट्रिनिटी कालेजके डॉ० जोसेफने काम करना आरम्भ किया। नौ सालके अध्ययनके दौरान उन्होंने आयरलैण्डमें जन्मे ऐसे ५७५ भाइयोंके जोड़ोंपर अध्ययन किया जिनमें एक भाई आयरलैण्डमें रह गया था और दूसरा अमरीकाके बोस्टनमें जा बसा था। परीक्षणमें इन दोनों भाइयोंके स्वास्थ्यमें बहुत परिवर्तन पाया गया। अमरीकामें बसे हुए भाइयोंमें हृदय-रोग और उससे मृत्युकी दर आयरलैण्डकी अपेक्षा अधिक थी।

अमरीका और आयरलैण्डके दोनों भाइयोंके परिवारोंके खान-पान, रहन-सहन और काम करनेके तरीकोंका विश्लेषण किये जानेपर पता चला कि दोनोंमें बड़ा अन्तर था। अमरीकामें रहनेवाले भाईके खानेमें चर्बीकी मात्रा अधिक थी और वे खाना भी अधिक खाते थे, जिसके फलस्वरूप उन्हें ठोस चर्बी (सेच्युरेटेड फैट) अधिक मिलती थी जिससे उन्हें कैलोरीज और कोलेस्टेरोल बहुत अधिक मात्रामें प्राप्त होते थे।

शरीरके अन्दर उत्पन्न होनेवाला कोलेस्टेरोलके साथ जब इस ठोस चर्बीसे उत्पन्न कोलेस्टेरोल मिलता है तो शरीरमें इसकी मात्रा आवश्यकतासे अधिक हो जाती है। यह फालतू कोलेस्टेरोल शरीरमें जमा होकर मोटापा लाता है और साथ ही रक्तवाहिनी धमनियोंमें जमा हो जाता है। इससे धमनियाँ तङ्ग हो जाती हैं और उनमें रक्त आसानीसे प्रवाहित नहीं हो पाता। अतः रक्तको प्रवाहित करनेके लिए हृदयको और अधिक शक्तिसे दवाव डालना पड़ता है। फिर हृदयकी मुख्य धमनी तङ्ग हो जाती है तो हृदयपर और भी दबाव डालती है और अन्तमें नतीजा होता है—दिलका दौरा !

यदि तत्काल डॉक्टरी सहायता मिले और दौरा गम्भीर न हो तो आज ८५ प्रतिशत व्यक्तियोंको बचाया जा सकता है।

चर्बीके साथ हृदय रोगका दूसरा कारण, डॉ० फ्रेड्रिक स्टारेके अनुसार, शरीरसे काम या व्यायाम न करना है। शारीरिक श्रमके अभावमें कोलेस्टेरोल जल नहीं पाता। यदि खूब खानेके साथ खूब शारीरिक काम किया जाय तो कोलेस्टेरोल जमा नहीं हो पाता। इसलिए हृदय-रोगका मुख्य कारण चर्बी नहीं, बल्कि शारीरिक श्रमका अभाव है।

चर्बीके साथ साथ हृदय-रोगका अन्य कारण भोजनमें मैगनीशियमकी कमी भी है। मैगनीशियमकी कमीसे धमनियोंमें कैल्शियम जमा होने लगता है जिससे धमनियाँ कड़ी हो जाती हैं और दिलके दौरेका कारण बनती हैं। लेकिन चाय इस दिशामें काफी मदद करती है। चायमे फ्लोराइड

नामक तत्त्व होता है। यह तत्त्व धमनियोंसे कैल्शियमके जमावको कम करता है।

सुन्दर पत्नी अभिशाप !

हृदय-रोगके अन्य प्रमुख कारणोंमें अधिक सिगरेट पीना, दूषित वातावरणमें रहना, मधुमेह तथा रक्तचापके रोग भी शामिल हैं। सुन्दर पत्नीको भी इस रोगका कारण बताया जाता है, लेकिन इसपर डॉक्टरोंमें काफी मतभेद है। कुछ डॉक्टरोंका मत है कि अधिक यौन संसर्गोंसे इस रोगको बल मिलता है, जब कि कुछ मानते हैं कि हृदय-रोगोंका यौन-संसर्गोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। यौन-संसर्गोंसे हृदय-रोगकी सम्भावनाएँ कम होती हैं, यह एक मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रचारित मत है, जिसका शरीर-विज्ञान और चिकित्सा-पद्धति समर्थन नहीं करती। फिर भी डॉक्टरोंने यह स्वीकार किया है कि हृदय-रोगोंके लिए यौन-संसर्ग शारीरिक और मानसिक परेशानी और तनावोंको दूर करनेमें मदद करते हैं। कुछ डॉक्टर यह भी कहते हैं कि हृदय-रोगको बढ़ानेमें यौन-संसर्ग सहायक होते हैं, क्योंकि यौन-संसर्गोंके समय हृदयकी धड़कनें बढ़ जाती हैं जिनसे डर बना रहता है कि कहीं कमजोर दिल हमेशाके लिए ही धड़कना बन्द न कर दे।

खूनका सम्बन्ध

हृदय-रोगके इन कारणोंमें पैतृकता या अनुवांशिक-परम्परा भी एक है। दिल्लीके सुप्रसिद्ध हृदयरोग-विशेषज्ञ डॉ॰ करोलीने लगभग दो हजार रोगियोंपर किये गये अध्ययनसे बताया है कि दिलके दौरेके शिकार रोगियोंमें उनकी संख्या अधिक है जिनके नजदीकी सम्बन्धी, (जिनसे रोगीका खूनका सम्बन्ध है) कभी दिलके दौरेके शिकार हुए हैं। खूनके सम्बन्धकी यह बात युवा रोगियोंके साथ तो बहुत ही सही है। इन युवा रोगियोंकी आयु २५ से ३५ के बीच है।

इस अध्ययनसे यह बात भी सामने आया है कि दिलके दौरेके शिकार शिक्षित रोगियोंको दिलके दौरे प्रायः उस स्थितिमें पड़े हैं, जबकि वे मानसिक उलझन, तनाव या निराशाकी चरम सीमापर पहुंचकर कुंठित हो रहे थे।

डरका खतरा मत मोल लीजिये

हृदयपर हर छोटी-बड़ी बातका बोझ लादे रखना, जरूरतसे अधिक सोचते-विचारते रहना और हर समय चिन्ता करते रहना—ये सब हृदयके साथ अन्याय नहीं तो फिर क्या है? आप सोचते हैं कि आप अपने दिमागको उलझाये हुए हैं, लेकिन नहीं, आप दिमागको नहीं, बल्कि दिलको उलझाये हुए हैं और दिलको उलझाकर आप नहीं जानते कि आप जिन्दगीसे खिलवाड़ कर रहे हैं।

मीनाक्षीको मदुरै और सुन्दरेश्वरकी मीनाक्षी

★ लक्ष्मीकान्त सरस

दक्षिण भारतको शिल्पकला, निर्माण-कला तथा भक्तिभावनाका अतीत गौरवपूर्ण रहा है। दक्षिण और उत्तर हमेशासे एक दूसरेके पूरक रहे हैं। इस बातको किसी भी तर्कसे नकारा नहीं जा सकता कि उत्तरापथमें भक्तियोगकी योजनाएँ बनीं, पर वे सफल हुईं दक्षिणमें, सम्प्रदायोंका प्रवर्तन दक्षिणके आचार्योंने किया, तो उसका सम्वर्धन उत्तरके आचार्योंने किया। वर्ण-व्यवस्था उत्तरसे प्रारम्भ हुई तथा उसमें परिष्कार, संगठन तथा सुधार दक्षिणने किया। वेदोंकी उत्पत्ति उत्तरमें हुई, लेकिन उनका सस्वर पाठ करनेवाले घनपाठियोंकी संख्या दक्षिणमें आज भी अधिक है। संस्कृत उत्तरापथकी भाषा है, लेकिन उसके विकासमें दक्षिणके विद्वानोंने भी योग दिया। आर्य-संस्कृतिके कई चिह्न जब उत्तरमें मिटने लगे, तब उनकी गौरवगाथाको विकास दक्षिणमें होने लगा। दक्षिणके भरतनाट्यम् और कर्नाटक-संगीतका भारतकी ललित कलाओंके विकासमें एकात्मक योगदान है।

दक्षिण भारत धर्म और भक्तिके मामलेमें पूरे देशमें ही नहीं, विश्वमें भी अपना विशेष स्थान रखता है। दक्षिणके लोग अगर काशी दर्शनके लिए लालायित रहते हैं, तो उत्तरके लोग रामेश्वरम्‌के लिए उत्तर और दक्षिणकी एकात्मकता देश-काल और धर्मके धरातल पर गौरवपूर्ण है।

आप हृदय रोगोंसे बच सकते हैं लेकिन बचनेके लिए पहली शर्त है कि आप अपने दिलपर रहम कीजिये। इन छह बातोंका भी पालन कीजिये जो डॉक्टर कारवोनेनने बतायी है—सिगरेट पीना बन्द करें, पेटको ठूंस-ठूंस कर न भरें, भोजनमें चर्बीकी मात्रा कम कर दें, अनाज, दालें, फल-सब्जियां, खानेके तेलका उपयोग करें, और अन्तिम बात यह कि कम-से-कम पाँच वर्षमें एक बार अपने रक्त-चापकी जाँच अवश्य करालें।

यदि आप इन बातोंका पालन करते हैं तो सुखसे लम्बी जिन्दगी जी सकेंगे।

प्रस्तोता—जगदीश चन्द्रिकेश

प्राचीन भारत उत्तरापथ और दक्षिणापथके नामसे आर्य और द्राविड़ दो जातियोंमें विभक्त था। उत्तरापथकी तरह दक्षिणापथ भी छोटे-छोटे राज्योंमें बंटा हुआ था। 'वाकाटकों' के बाद दक्खन में (५००-८०० ई०) चालुक्योंके एक शक्तिशाली संगठनका उदय हुआ। उस समय दक्षिणमें 'पल्लव' समृद्ध और शक्तिशाली थे, जिनकी राजधानी कांचीपुरम् थी, कालान्तरमें पल्लवोंको 'पाण्डिय' तथा 'चालुक्यों'से युद्ध करनेके लिए विवश होना पड़ा। पल्लवनरेश महेन्द्रवर्मन हर्ष और पुलकेशियनका समकालीन था, जो योद्धाके साथ-साथ कवि और सङ्गीतज्ञ भी था। महेन्द्रवर्मन धार्मिक अनुष्ठानों तथा उनमें निहित तत्वों की परख रखता था, जो प्रारम्भमें जैन था, लेकिन बादमें तमिल सन्त 'अप्पार' की प्रेरणासे शैव सम्प्रदायको स्वाकार कर शैव बन गया।

५०० से ८०० ई० के बीच दक्षिणापथमें एक ऐसा जनसमुदाय था, जो शिव और विष्णुकी उपासनाको व्यक्तिगत उपासना मानता था,— जिसे आगे चलकर भक्तिके नामसे जाना जाने लगा। पद्मपुराण तथा श्रीमद्भागवतमें भक्ति स्वयं ही अपने जन्मकी कथा कहती हैं :

उत्पन्ना, द्राविडे चाहं
कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे
गुर्जरं जीर्णतां गता॥

(श्रीमद्भागवतम् ११.५.३८-४०)

('मैं द्राविड़ देशमें उत्पन्न हुई, कर्नाटकमें पनपी, महाराष्ट्रमें मैंने थोड़ी स्थिरता पायी, फिर वहांसे फैलते-फैलते लुप्तप्राय हो गयी!')

धार्मिक विकास और भक्तिभावनाने उत्तरके वजाय दक्षिणमें अधिक विस्तार पाया। उत्तरने धर्मकी जिन व्यवस्थाओंमें परिवर्धन किया, दक्षिणने उनका संवर्धन किया। शैव और वैष्णव सम्प्रदायने भक्ति-मार्गको दो शाखाओंके रूपमें दक्षिणके धर्म-प्रिय नरेशोंके माध्यमसे विस्तार पाया, वैष्णव सम्प्रदायके अभिमावकोंमें विष्णुगोप (ई० ३४०) कुमार विष्णु प्रथम, नन्दिवर्मन तथा सिंहविष्णु (ई० ५९०) आदि पल्लव नरेश थे, जिन्होंने अपने शाशन—कालमें कई ऐसे विष्णुमन्दिर बनवाये, जो अपनी कलावृत्तयों तथा शिल्पकलाओंसे दक्षिणमें ही नहीं, पूरे भारतमें आज भी विख्यात हैं। शैव मतके अभिभावकोंमें चोल पाण्डेय व पल्लव नरेश तथा उनकी रानियाँ थीं, पाँचवीं शतीसे दसवीं शती तक दक्षिणके प्रायः सभी राजा शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायोंको समान रूपसे मानते थे।

शिवलिङ्गोंकी उपासनाकी परम्परा पहले-पहल आन्ध्रमें प्रचलित हुई, जो फैलते-फैलते दक्षिणकी उपा-

सना-धारा बन गयी। ऐतिहासिक दृष्टिसे दक्षिणका मध्यकाल मन्दिरोंके निर्माणका स्वर्णयुग कहा जाता है। इसी कालमें शैव और वैष्णव सम्प्रदायोंके अनेक मन्दिरोंका निर्माण हुआ। कांचीपुरम् तथा मदुरै भक्ति और निर्माणके प्रवाहकारी केंद्र थे, फलस्वरूप दोनों केन्द्रोंने दक्षिणमें अनेक कलात्मक मन्दिरोंका निर्माण कराया।

कांचीपुरम्को शिवकी नगरी कहा जाता है, तो मदुरैको मीनाक्षी और सुन्दरेश्वरका परिणय-स्थल। पूरे तमिलनाडुमें मद्रासके बाद घनी आबादीवाला बड़ा शहर मदुरै ही है। यहाँकी लोकसंस्कृति, लोककला तथा लोककथाएँ भक्ति-मार्गकी स्थायी निधि हैं। मदुरैको तीर्थ-यात्री मन्दिरोंके नगरके साथ-साथ लोककथाओं और किवदंतियोंका नगर भी कहते हैं, यहां सुन्दरेश्वरके रूपमें शिव तथा मीनाक्षीके रूपमें पार्वतीका अवतार हुआ था, ऐसा माना जाता है और उसी रूपमें उन्हें पूजा जाता है, यद्यपि इस बातको प्रामाणिक सिद्ध करनेवाले ऐसे कोई सूत्र हाथ नहीं लगते, फिर भी दक्षिणके विद्वानों तथा लोककथाओंके अनुसार ई. पू. ६००-१२०० शताब्दी पहले, जहाँ आज मदुरै शहर बसा है, वहाँ एक बहुत बड़ा घना बन था, उस बनमें अन्य वृक्षोंकी अपेक्षा कदंबके वृक्ष अधिक थे। इसलिए, उस बनको 'कदंब बन' कहा जाता था। लोककथाओंके अनुसार जिस स्थान पर इंद्र द्वारा शिवलिंगको पूजा गया था और जिसे रात्रिके समय एक व्यापारी ने देखा था, वहीं अपने दरबारके ज्योतिषशास्त्री गोपाल स्वामीसे परामर्श लेकर पांड्य नरेश 'कुलशेखर' ने एक शिव-मंदिरका निर्माण कराया। मन्दिरके पूरबवाले द्वारपर लगी हुई एक शिलापर अंकित श्लोकोंके रूपमें ये तथ्यपूर्ण बातें आज भी पढ़ी जा सकती हैं। शिलापर अंकित श्लोकोंका भावार्थ इस प्रकार है—

'मदुरैकी स्थापनाके विषयमें जो कुछ प्रसिद्ध है, वह सत्य है। यह शिव-मन्दिर ठीक उसी स्थानपर बना हुआ है, जहां व्यापारी धनंजयने दिव्य ज्योति देखी थी। यही कारण है कि इस मन्दिरमें पूजा करनेवालोंकी मनोकामना पूरी होती है। यह आश्चर्यजनक, किन्तु सत्य है। 'कुलशेखर' ने पाँच पीढ़ी पहले मदुरै नगरको बसाया था'।

कुलशेखरके दरबारके ज्योतिषशास्त्री गोपाल स्वामी कवि थे। शिला पर अंकित उनके रचे श्लोकोंसे सहज ही इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

नामकरणका आधार

महाराज कुलशेखरकी मृत्युके बाद मदुरैकी गद्दीपर पांड्य साम्राज्य का उत्तराधिकारी मल्लध्वज बैठा।

वर्षों तक कोई संतान न होनेके कारण वह दुखी रहता था। एक दिन शिव-मन्दिरके प्राचार्य ने 'मल्लध्वज'को मीन-पालनका व्रत करनेके लिए कहा। फलस्वरूप मल्लध्वजकी रानी नील-मणि ने एक कन्याको जन्म दिया। जिसका नाम 'मीनाक्षी' रखा गया। लोककथाओंके अनुसार यह भी माना जाता है कि नवजात कन्याकी आँखें मीनकी तरह थीं इसलिए उसका नाम मीनाक्षी रखा गया।

मीनाक्षी क्षत्रिय वंशकी कन्या थी और सुन्दरेश्वरके रूपमें शिव एक गरीब ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए थे।

सुन्दरेश्वरके जन्मकी कथा भी बहुत विचित्र है --

एकबार एक गरीब ब्राह्मण दम्पतिका, जो संतानकी प्राप्ति न होनेके कारण बहुत चिन्तित रहते थे, स्वप्नमें एक देवपुरुष ने एक बालक देते हुए कहा था, 'जब यह बालक १२ वर्षका हो जाय, तब इसे—कांचीवरम्—(वर्तमान कांचीपुरम्–) के मन्दिरको सौंप कर आप तीर्थाटनको चले जाना।

इस स्वप्नसे ब्राह्मण दम्पतिको जहाँ एक ओर खुशी हुई, वहीं दूसरी ओर दुःख भी हुआ। समयानुसार ब्राह्मणीने एक रूपवान पुत्रको जन्म दिया, जिसका नाम उसके रूपके कारण 'सुन्दरेश्वर' रखा गया। सन्तान-प्रेम और देवाज्ञा पर सोचते-सोचते आखिर १२ वर्ष पूरे हो गये। सन्तानकी मोह-मायाको त्यागकर एक दिन ब्राह्मण दम्पत्तिने अपने पुत्रको कांचीवरम्के मन्दिरके मुख्य पुजारीको सौंपकर तीर्थाटनके लिए प्रस्थान किया। धीरे-धीरे सुन्दरेश्वर अपने रूप और गुणके कारण पुजारियों तथा भक्त-जनोंमें प्रसिद्ध हो गया। लोग अब उसे सुन्दरेश्वर न कहकर 'सुन्देरेश्वर स्वामी' कहने लगे। मन्दिरके आचार्य सुशर्माके सान्निध्यमें सुन्दरेश्वरने व्याकरण, वेद, पुराण, नीतिशास्त्र तथा आयुर्वेदका पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया। २५ वर्षकी आयुमें ही अपने गुरु आचार्य सुशर्माकी मृत्युके बाद सुन्देरश्वरने अनेक चमत्कार दिखाकर भक्तजनोंको अभिभूत कर दिया। पाँचों सिद्धियों और नवनिधियोंके ज्ञाता सुन्दरेश्वरको चर्चा दूर-दूर तक होने लगी। इसके चमत्कारसे मदुरै नरेश मल्लध्वज ओर मदुर राज्यके मंत्री प्रभाकरदत्त भी प्रभावित हुए।

आचार्य सुशर्माकी आज्ञाके अनुसार सुन्दरेश्वर वर्षों तक सिद्धियों तथा ज्ञानकी प्राप्तिके लिए जंगलोंमें भटकता रहा। एक दिन जब उसने काशीको यात्रा पर जानेकी बात सोची, तब उसी दिन संयोगवश पल्लव साम्राज्यके महामन्त्री प्रभाकरदत्तसे उसकी भेंट हो गयी, जो पाण्डिय-राजकुमारी मीनाक्षीके लिए वर ढूँढ़ने उत्तर भारतकी ओर जा रहे थे।

सुन्दरेश्वरके रूप-गुण और विद्वत्तासे प्रभावित होकर प्रभाकरदत्तने उसे अपने साथ यात्रा करनेको कहा। यात्रामें कई ऐसे प्रसङ्ग आये, जिनपर सुन्दरेश्वरके विचारोंको सुनकर मन ही मन मन्त्रीने मीनाक्षीके लिए सुन्दरेश्वरको वरके रूपमें चुन लिया। राजा मल्लध्वज पहलेसे ही सुन्दरेश्वरसे प्रभावित था, अतः मन्त्रीके प्रस्तावपर स्वीकृति प्रदान कर धूमधामसे सुन्दरेश्वरके साथ मीनाक्षीका विवाह कर दिया गया।

पचास वर्ष तक सुन्दरेश्वर और मीनाक्षी दोनों योग और भोगमें लिप्त रहे। अन्तमें सुन्दरेश्वरने शिवके गणकी प्यास बुझानेके लिए अपने बालसे जो तीन बूँद पानी निचोड़ा था, जिसके भीतरसे एक सोता फूट पड़ा था, जिसने नदीका रूप धारण कर लिया। उसीमें मीनाक्षी सहित जलसमाधि ले ली।

सुन्दरेश्वर और मीनाक्षीने जिस नदीमें जलसमाधि ली, उस नदीका नाम 'वैंगायी' है, जो आज भी मदुरैके निकट बहती है। वैंगायी तमिल भाषाका शब्द है, जिसका अर्थ हिन्दीमें 'हाथ नीचे करो' है। कहा जाता है कि महाप्रभु सुन्दरेश्वरने अपनी शादीके समय तमिलमें कहा था 'वैंगाई' तभी यह नदी उत्पन्न हुई थी, जो गङ्गाकी तरह पवित्र मानी जाती है और जिसमें स्नान कर दक्षिण भारतीय गङ्गा स्नानका पुण्य प्राप्त करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिसे इस कथाकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है, अन्तर सिर्फ इतना है कि मीनाक्षीका विवाह सुन्दरेश्वर स्वामीके साथ हुआ था, महाप्रभु सुन्दरेश्वरसे नहीं।

सुन्दरेश्वर और मीनाक्षी परिणयको लेकर प्रचलित अनेक दन्तकथाओंमें अधिक प्रचलित एक और कथा है, जो इस प्रकार है। असुरोंसे युद्ध करते हुए इन्द्र मदुरै तक आ गये, जहाँ ग्यारह रुद्रोंमें से एक शिव-रुद्र, मीनाक्षीके सौन्दर्य और गुणोंकी चर्चा सुन प्रभावित हुए और उन्होंने मल्लध्वजके पास मीनाक्षीसे विवाह करनेका प्रस्ताव भेजा, मल्ल-ध्वजकी स्वीकृति मिल जानेपर मीनाक्षीसे विवाहकर शिव मदुरैमें बस गये जहाँ कालान्तरमें मीनाक्षी और सुन्दरेश्वर मन्दिरका निर्माण हुआ।

शिवलीला-भूमि

दक्षिणमें ईसा पूर्व चौथी शताब्दीसे ही शिवभक्तिधाराका प्रचार राजाश्रयके सहारे होने लगा था, प्राप्त सिक्कों, शिवलिङ्गों, भित्तिचित्रों आदिके आधारपर यह बात सिद्ध हो जाती है, दक्षिणके 'गुड़डीमल्ल' नामक स्थानमें ई० पू० दूसरी शताब्दीका शिवलिङ्ग मिला है, जिससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि इसके पूर्व ही शिवलिङ्ग-पूजा तथा रुद्र-देवताकी उपासना दक्षिणमें प्रचलित थी।

मद्रास महानगरसे २४७ किलो-मीटरकी दूरीपर बसे हुए मदुरैको शिवकी लीला-भूमि माना जाता है, यहीं पर कामदेवने शिवको चुनौती दी थी, मदुरैका व्यापार पाड्य नरेशोंके शासनकालमें श्रीलंका, जावा, सुमात्रा, रोम तथा मिस्र तक फैला हुआ था, पांड्य नरेशोंकी प्राचीन राजधानी मदुरै कई बार युद्धकी विभीषिकाको देख चुकी है और धर्मके उत्थानमें भी प्रमुख भूमिका निभा चुकी है।

आज जिस मदुरै तथा मोनाक्षी मन्दिरको हम देखते हैं, वे पाण्ड्य नरेशोंके कालके नहीं हैं, आजकी मदुरैको विजयनगरम् साम्राज्यके नायक वंशीय नरेशोंने नष्ट हो जानेके बाद पुनः बसाया, विजयनगरम् साम्राज्यके नरेशोंमें बहुतसे नरेश कलाप्रेमी और काव्यप्रेमो हुए हैं, इस साम्राज्यके उत्तराधिकारियोंमें सबसे प्रतापी और प्रतिभाशाली सम्राट् तिरूमल नायक था, जिसने शोधार्थियों तथा पण्डितोंसे शोध करवाकर उस स्थानका पता लगवाया, जहाँ सुंदरेश्वर तथा मीनाक्षीका आश्रम था, उसने वहीं पर आजके विश्वप्रसिद्ध मीनाक्षी और सुंदरेश्वर मन्दिरका निर्माण करवाया, मदुरैके मध्य भागमें स्थित मीनाक्षी और सुन्दरेश्वरका मन्दिर आज पूरे भारतीय भक्तजनोंके लिए विशेष महत्त्व रखता है।

।तरूमल नायकके बाद कई नरेशोंने मदुरैमें पचासों मन्दिर बनवाये लेकिन मीनाक्षी और सुन्दरेश्वरका मन्दिर कला, धर्म और विशालताके कारण अग्रणी रहा है और रहेगा। मदुरैका विस्तार कई नरेशोंके हाथों हुआ। सुरक्षाकी दृष्टिसे विजयनगरम्के नरेशोंमें किसीने मदुरै नगरोंके चारों ओर ऊँची दीवार बनवाकर उसे एक ऐसे किलेका रूप दे दिया, जिसमें प्रवेश करनेके लिए सोलह बड़े-बडे प्रवेश-द्वारा बने थे इन प्रवेश-द्वारोंके ऊपर ऊँची-ऊँची मीनारे बनायी गयी थीं, जिनपर चढ़कर होनेवाले आक्रमणका पता लगाया जा सकता था। इतनी सुरक्षात्मक कार्य-वाहीके बाद भी तिरुमल नायकके शासनकालमें ही (१६२५ ई०) मदुरै एक भयानक दुर्घटनासे नष्ट हो गया। लेकिन, मन्दिर पर इससे कोई विशेष आंच नहीं आने पायी।

मीनाक्षो मन्दिरकी सुन्दरताको स्वर्ण कमल सरोवरसे देखा जा सकता है। यह कामक्रीड़ाका सरोवर कहा जाता है, जिसमें कामशास्त्रके चौरासी आसनोंका परीक्षण किया गया था। मन्दिरके गोपुरम् तथा अष्ट शक्ति-मण्डप कलाका अष्ट शक्तियोंसे अट्ठावन भक्तों तथा पर्यटकोंको अभिभूत कर देते हैं, यहाँका 'माली मंडपम्' मीनाक्षी का तथा 'नाडुकाट्ट मण्डपम्' सुन्दरेश्वर स्वामीका स्मारक है, वर्षमें एक बार

कीड़े और कपड़े



कैलीफोर्नियाके फार्म ब्यूरो संघकी सूचनाके अनुसार मच्छर तथा दूसरे कीड़े-मकोड़े चटकीले कपड़े पहननेवाले और गंजे व्यक्तियोंकी ओर अधिक आकर्षित होते हैं, ब्यूरोकी ओरसे इस सम्बन्धमें जो अनुसंधान किया गया, उससे पता चला कि गंजे सर या भड़कीले कपड़े पहनकर घूमनेवाले व्यक्तिके कपड़ोंपर जब सूर्यकी किरणें पड़ती हैं तब वे प्रतिक्षिप्त होती हैं, जिनसे आकर्षित होकर कीट-पतंग गन्जे व्यक्ति या भड़कीले कपड़े पहनकर घूमनेवाले व्यक्तिकी ओर दौड़े चले जाते हैं।

ब्यूरोके अनुसन्धानकी सबसे दिलचस्प जानकारी यह है कि श्वेत और पीत या गेरुए रंगके कपड़े पहननेवालोंकी ओर मक्खी, मच्छर तथा दूसरे कीट-पतंग बहुत कम आकर्षित होते हैं। इस जानकारीके सन्दर्भमें जब भारतीयोंके ज्ञान ओर व्यवहार पर विचार किया जाता है तब और भी आश्चर्य होता है, श्वेत वस्त्रोंको भारतमें पवित्रताका प्रतीक माना जाता रहा। पीताम्बरको लोकप्रियताकी कहानी हजारों वर्ष पुरानी है। गृह त्यागकर वनोंमें रहनेवाले और भ्रमण करनेवाले साधु-सन्यासियोंने गेरुए वस्त्रको अपनाया, तीनों अवस्थाओंके लिए जिस रङ्गके वस्त्रोंकी व्यवस्था की गयी वे अमेरिकी वैज्ञानिकोंकी खोजके अनुसार ऐसे हैं जो मक्खी-मच्छर और कीट-पतंगोंको व्यक्तिकी ओर आकर्षित नहीं करते। गंजोंकी समस्या कुछ कठिन है, क्योंकि इसका कोई इलाज अब तक नहीं खोजा जा सका, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वस्त्रोंके रङ्गके सम्बन्धमें हजारों वर्ष पूर्व भारतीय वैज्ञानिकोंने जो खोज की उसकी सच्चाईको अमेरिकी वैज्ञानिकोंने अब प्रमाणित किया है।

चैत्र—(अप्रैल-मई) माहमें सुन्दरेश्वर तथा मीनाक्षीका विवाहोत्सव मनाया जाता है, जिसकी शोभा इस अवसरपर अद्वितीय होती है।

चलो—दुःखमें-से सुख बनाये।

सुख या दुःख बाहरकी कोई परिस्थिति नहीं है, मनकी स्थिति है।

मनके सम्वेदनमें ही सुख या दुःख बैठे हैं। वासनाकी दुर्गन्ध अर्थात् दुःख।

निस्पृहताकी सौरभ माने सुख।

हमारे जीवनके सुख-दुःख दूसरे किसीके हाथमें नहीं, अपने ही हाथमें हैं।

हमारे माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र सुख या दुःख नहीं दे सकते। हमारे मनकी वृत्ति ही सुख-दुःखकी जननी बनती है।

किसी लड़कीसे मैं पूछता हूँ कि, 'क्या तुम्हें रोटी बनाना आता है।' तो तुरन्त 'हाँ' कहती है, किन्तु मैं जो ऐसे पूछूँ कि क्या तुम्हें दुःखमें-से सुख बनाना आता है ? तो तुरन्त ही शरमा जाती है या मुरझा जाती है।

अच्छा भोजन मिले तो आनन्दसे पाओ, किन्तु भोजन बिलकुल ही न मिले तो एकादशी मानकर खुश हो जाओ।

एक दिन एक महात्माने मुझे बहुत गालियाँ दी !!

मैं तो बैठा ही रहा। फिर जब वे शान्त हुए तब मैंने गाली देनेका कारण पूछा।

उन्होंने कहा : 'अरे भाई ! तुझे इस संसारमें बहुत ही गालियाँ खानी पड़ेंगी। उस समय तू घबड़ा न जाय उसकी शिक्षा देनेके लिए ही गालियाँ देता हूँ। गालियाँ आनन्दसे खानेकी आदत पड़ जाय तो अवसर आनेपर चित्त कितना प्रसन्न रह सके ?'

इसलिए हम सबको सुख पैदा करनेकी विद्या सीख लेनी चाहिए।

एक समय हम प्रेमपुरीजी महाराजके साथ वर्षाके दिनोंमें मोटरमें जा रहे थे, एक दूसरी मोटर तेजीसे पाससे निकल गयी, और कीचड़का फुहारा उड़ाया·······और हम सबके कपड़े रङ्ग दिये, साथ ही साथ कीचड़ स्वामीजीके मुँहमें भी घुस गया।

प्रसंग तो मोटरवालेके ऊपर गुस्सा आ जाय, ऐसा था, किन्तु प्रेमपुरीजी महाराज खुश हो गये और बोले; 'वाह आज तो मोटरका चरणामृत मिल गया।'

दुःखको सुखमें पलटनेकी कितनी सुन्दर कला है ?

प्रतिकूलताको अनुकूलतामें पलट देनेकी कला आ जाये तो सदासर्वदा परमानन्द ही परमानन्द रहे।

—अ० सरस्वती

SUCCESSFUL PURSUIT OF HAPPINESS

BY

Justice B. C. Misra

Countless persons talk in their sleep but only a lecturer can talk during other people's sleep. But during the discourses of Swami Shri Akhandanand Saraswati, I have not discovered anybody sleeping away. So I am very happy to share some of his teachings with you.

By virtue of their very nature, all human beings as well as other living creatures, desire happiness—such a happiness which should never elude them. While lower class of creation makes only instinctive efforts to keep away from the source of trouble, the human beings exercise their intelligence and make well-calculated herculean efforts to obtain peace and ward off sorrow and misery. Unfortunately, the common experience is that most of our efforts fail to achieve the desired results and we are faced with failure, grief and misery at every corner of our life and at all events, the little joy we realise, disappears no sooner than we are conscious of its realisation. Shall we examine what its reason is ?

The store-house and the premier source of all happiness is truth, knowledge and bliss which is the supreme spirit. This spirit permeates through us and is manifested as well as reflected in our individual soul. All pleasures, even those purporting to have been derived from sensual objects, owe their origin and experience to the bliss of our soul and the communion of our mind with it. Without the soul and the mind, it would be impossible to derive any pleasure from any external object or intellectual exercise.

There was a fish found on the sand on the bank of a river and a kind-hearted man happened to pass by it. He

found that the fish was feeling uncomfortable and gasping for life. He took pity on it, picked it up and put it in a handkerchief and carried it home. At home, he asked his wife to prepare a very warm and soft bed for the fish, where it was comfortably laid, but it continued to flutter. The kind man did not know what to do when his teenager son walked in. On his suggestion, their television set was tuned in exhibiting a beautiful dance and music. The agony of the fish did not abate. The lady of the house suggested that the fish was lonely and so they might get it a male companion. The gentleman thought that they had not looked after the hunger of the fish and so he asked his wife to prepare a nice semi-liquid pudding and coffee and serve them to the fish, while he would go out to find it a male companion. Before long, the fish died in agony and no enjoyment of touch, sight, sound or taste could rescue her.

The story amuses us but it depicts vividly that the expression and acts of love must be dictated by discretion and indiscriminate emotions lead to ruin. The gross ignorance lies in the circumstance that we fail to realise that the real source of our peace and happiness is the fathomless ocean of eternal spirit, as is the sea to the fish, and divorced out of it, our misery would be endless and no amount of sensual enjoyments and intelligent pursuits can procure us true and lasting happiness. The reason for grief following our efforts in the pursuit of happiness is apparent divorce from the main source and current of happiness. This occurs owing to our ignorance or Avidaya and lack of full and proper understanding of the real source of our joy, and our failure to attune ourselves to it and hold communion with it. We make the mistake of identifying ourselves with the finite body and material objects and try to get joy out of them through our

senses, while we conveniently forget that we are not the finite body but the infinite spirit which transcends time, space and causality and is boundless and our individual self is a part and parcel of the Supreme Being.

What is the source of our ignorance and why do we forget our real self ? The answer is not far to seek. There is no college for teaching ignorance. "Why, how and where" are parts of the causality which is a part of the manifested world and the part cannot fully comprehend its whole, much less the source of the whole. When we realise the eternal truth, these questions resolve themselves. Even otherwise, they are of no substantial value. Should our clothes be set on fire, we would not be waiting to know whether the fire has been caused by a chemical or by electrical current or otherwise and how and where it originated; our first impulse would be to extinguish the fire and attain rest. Should a snake fall on us, we would not be interested in investigating the kind and quality of the snake, nor its ancestory, nor its domicile and we would like to throw off the snake of the world and attain our eternal peace. If a boy being taught to do addition of 5 plus 4 should write the answer 8 and when asked to correct himself, persists in the question : 'Teacher please first tell me how and why I made the mistake of arriving at 8', the teacher would smile and would never make an effort to explain the cause of the mistake, but he would ask the student to firstly learn the correct answer and then what is not correct, will take care of itself.

Therefore, we have a clear duty to realise the eternal quality of our soul and find out that it is not different from the Supreme Being but it is Truth, Knowledge and Bliss. This can be done by a self-discipline of Sarwan Mannan

and Nidh-i-Dhiayasan. By making our heart pure, our actions righteous and by a subtle mind and earnest and humble enquiry, we shall, by a process of positive as well as negative reasoning, be able to arrive at the conclusion that our real "I" is in quality not different from the Supreme "I" and this will lead to the awakening of the soul. It is difficult to conceive that there are any half-way houses between truth and knowledge on one hand and falsehood and ignorance on the other, and all efforts to find a co-relation between the two are bound to prove futile. As was remarked by Winston Churchill, between the fire-brigade and the fire, there cannot be any case for impartiality or compromise.

We must, therefore, be uncompromising and put an end to the nescience or Avidaya which is the source of all our misery and the fruitlessness of our efforts to obtain peace and happiness. Avidaya and nescience shows to us the falsehood as truth, indiscrimination as discrimination, impurity as purity, transitory as eternal, foreign elements as our dear self and the sorrow and misery as comfort and happiness. We cannot possibly enter into any compromise with it and we must, at the earliest opportunity, throw off ignorance with all its material components and effects and realise our true self which is not different from the Supreme Self. Once we realise it, our existence, our knowledge and our bliss will be eternal and will not be fettered by shackless of time, place, circumstance or thing and the whole world and all its beings will resemble waves of the sea appearing to be different, yet living, moving and having their being in the ocean of eternal bliss and peace.

During my travels, I came across a pregnant couplet in Hindi. It said with emphasis : "Granth, Panth Sab Jagat Ke Baat Batawat Teen; Ram Hride, Man Main Daya, Tan Sewa

Main Leen. "Translated it means all scriptures and faiths of the world teach only three things : Have God in your mind, compassion in your heart and the body should be engaged in service. I liked the couplet. It provides a practical guide for the conduct of life. We must ever be lovingly conscious of God who is to the devoted also a personal Being and realise that He is full of kindness and mercy and affection and if we concentrate on His virtuous attributes, we are likely to be wedded to His feet, but our consciousness of God should be sincere, earnest and evergreen. We should keep God in our mind and act and behave righteously but we should beware of giving the Almighty an opportunity to express any Yearning, as is depicted in the following verses quoted from elsewhere :

"You make me a prisoner inside four walls,
And keep me watching for your rare calls.
You come to me only when you are helpless,
You worship me only when you are childless,
You pray to me only when you want wealth,
You remember me only when you lose health,
You forget me the minute I give you these things,
And never try to seek me, You greedy human beings,
Do not flatter and bribe; it hurts me a lot,
Oh, make me happy. Let me live in your heart."

(Quoted.)

The principle of happy living, therefore, is to have Jnan or true knowledge of our intelligence and soul and have a correct conception of the supreme spirit and its identity with us. In the mind, we must enshrine gratefulness to the Lord and in the heart compassion for His living beings. The body is, however, not to be tortured or neglected, nor

should it be allowed to become lazy. Without any selfish purpose, our hands and feet and other organs should be utilised for the benefit of mankind. In our work and conduct, five things are necessary to be kept in view. Firstly, we should never perform an unrighteous act and from amongst righteous deeds, there must be a gradual withdrawal. Secondly, the work should be performed without any selfish motive and without an eye to the fruits; the work must be done correctly and righteously as a part of the duty leaving the result in the hands of God. Thirdly, there should be no ego of the doar of the deed and we should act only as instruments of the supreme will. Fourthly, there should be no attachment to the deed itself and we should be able to put a dead stop to the work most willingly and cheerfully, when the call comes to us the stop and we should not feel the pinch of leaving God's work unfinished. Lastly, but not the least, we should be free from the ego of being a non-doer either and this realisation is a supreme act of worship which leads to salvation on the earth.

Whatever path we adopt and whatever actions we take, we should never lose consciousness of the presence of Almighty God. During our work, He acts as the third person : He is That. In worship and prayers, He is the second person : Thou art That. And in the path of knowledge, God is the first person : I am That. But indeed God never leaves us, while the world never lasts with us. May we be blessed with Realisation of Truth in the successful pursuit of happiness.

●

YOGA AS EFFICIENCY IN ACTION

(PSYCHOLOGY OF KARMAYOGA)

BY

I. P. Sachdeva

6. Yogic Efficiency Par Excellence.

(Efficiency of dedicated life)

Gita makes a unique contribution for mental efficiency in its concept of Yajna which has got a vital bearing on the theory and therapy of the mind. Yajna stands for consecrated action which is the expression of our innermost nature (svabhava). Offering our thoughts and feelings through means of actions is in reality is the offering our whole of our innate nature. To perform such a right action at all costs and if necessary even to die for it becomes the law of life (Svadharma). Yajna or consecrated action is an offering of a piece of conduct to the Lord of creation.

Gita shows the way of complete dedication in the shloka which means 'Dedicate your mind to me, do things for Me alone, let your actions be offered to Me'. Man has three main aspect to his nature, intellectual, emotional and volitional or actional. It is not enough to dedicate merely our intellect or merely our emotions or nerely our actions because in that case that our offering will remain partial one and our integral nature in its totality won't be redeemed. The life of dedication is a life of utmost efficiency and utmost joy.

7. Conclusion 'Yogi' 'Bhav'

In conclusion let me mention precisely the salient characteristics of an integrated personality or Karma Yogi as well as those of right effective actions.

(a) Characteristics of Karma Yogi or integrated personality.

(i) He is self-contained individual—content in the self by the Self.

(ii) He has transended the pairs or opposites 'dwandas' and remains unperturbed in sorrows and does not long for joys'.

(iii) He is free from fear, attachment and anger (vitraga-bhayarodha).

(iv) Motive of the fruit of action is not found lurking in his mind—both conscious and unconscious.

(v) Characteristics of right effective action.

1. The test of right action is an absolute equanimity.
2. There should be no clement of attachment in action. It should be an action without a reaction.
3. Best kind of action is that which is direct and instanteous.
4. There should be justice to oneself (meaning self honesty and if required honest self criticism) and spirit of love and good will to the person acted upon (i. e. making the action as helpful to him as possible).

The core of Gita teaching is 'Yogi Bhava i. e. Be a Yogi and fight the battle of life in tune with genuine spirit of Karma Yoga. To act for gain is good to act under a sense of duty or obligation is better but the best form of action is that which is done in the true spirit of yajna or complete dedication. Action or duty is the highest worship of the Lord of creation, Yoga of action brings peace which lies beyond tension, Peace which lies beyond pleasure–pain polarity and peace which surpasses understanding. Besides it yields satisfaction of most efficient living. Pursued in the right spirit it is a sure path to success (Siddhi). While concluding let me repeat' Yogi Bhava and fight the battle of life in the genuine spirit of Karmayoga.

तुलसी-मानस-प्रकाशनकी उपलब्धियाँ

—हरिकिशनदास अग्रवाल द्वारा लिखित—

संक्षिप्तरूपमें आधुनिक ढंगसे आध्यात्मिकताकी ओर प्रेरित करनेवाली जीवनोपयोगी पुस्तकें :—

१. संसारका सार (हिन्दीमें) : आधुनिक साधनों द्वारा आध्यात्म शिक्षा ३–००, २. ज्ञान-साधना : ज्ञानसाधनाके प्रति संकेत २–००, ३. विज्ञानसे ज्ञान : आधुनिक उदाहरणों द्वारा आध्यात्मिकविद्याका प्रसार १–००, ४. वेदान्त नवनीत : महात्माओंके प्रवचनोंका सार १–५०, ५. वेदान्तका सरलबोध : वेदान्त, बड़े ही सरल उदाहरणोंमें १–००, ६. आध्यात्मिक पिक्टोरियल (हिन्दी व अंग्रेजी) : ज्ञान सूत्र तथा चित्र द्वारा प्रस्तुत ४–००, ७. आध्यात्मिक चित्रावली (हिन्दी-इंग्लिश) पाकेट बुक : सचित्र सर्वसाधारणके लिए आध्यात्मिक ज्ञान ६–००, ८. मुमुक्षु : रोचक तथा शिक्षाप्रद-उपन्यास ५–००, ९. मनकी शान्ति (पद्य) : अंग्रेजी 'पीस ऑफ माइण्ड' का हिन्दी अनुवाद ४–००, १०. हमारी परम्परा : क्रिकेट और ताश द्वारा आध्यात्मकी नवयुवकों तक पहुँच २–००, ११. आराम सुख शान्ति और आनन्द : जैसा नाम तैसा गुण ०–५०, १२. अपनी ओर इशारा : अपनी ओर आनेके सूत्ररूप इशारे १–००, १३. व्यावहारिक जीवन और परमात्मा : व्यवहार परमात्ममिलनमें बाधक नहीं, स्पष्टता १–००, १४. श्मशान यात्रा : जीवनयात्राका अन्तिम चरण ०–५०, १५. मेरे १०८ गुरु : क्षण-क्षण व कण-कणसे नूतन ज्ञान ३–००, १६. सजगता : पल-पल अविरल वर्तमानमें सजग जीवन १–००, १७. अविरोध-निरोध और स्वबोध : अविरोधसे मनका निरोध और निरुद्ध मनमें स्वबोध २–००, १८. वेदान्तका वैज्ञानिक मनन : वैज्ञानिक दृष्टांतों द्वारा वेदान्तका मनन २–००, १९. चिन्ता और निश्चिंतता : चिन्तासे पार उतरनेके सरलसूत्र २–००, २०. मनके पार : विकट प्रश्नों पर आचार्यश्री रजनीशजीके उत्तर १–००, २१. घर-घरकी समस्या (प्रेसमें) : घरेलू दैनिक विकट समस्याओंका समाधान २–००, २२. पीस ऑफ माइण्ड (अंग्रेजीमें) : अंग्रेजीमें सूत्ररूप आध्यात्मिक सरल ज्ञान ३–००, २३. क्वायटर मोमेण्ट्स (अंग्रेजीमें) : मौनके क्षणोंमें लिखे सूत्ररूप अंग्रेजी-सूक्त २–००, २४. मनन योग्य बातें : १–००, २५. 'मनन' आध्यात्मिक मासिक : मनन करने योग्य पत्र : वार्षिक शुल्क: ४–००, २६. जाग्रत-जाग्रत : जीवन जागृतिके लिए ०–५०, २७. उनके सान्निध्यमें : एक महापुरुषके रहस्योंका उद्घाटन २–००, २८. जाग रे जाग : ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी निर्मलजीके रहस्यमयी प्रवचनोंका संकलन ४–०० ।

ग्राहक एवं एजेण्ट्स, पत्र-व्यवहार करें

तुलसी-मानस-प्रकाशन

अन्तर्गत विभाग केवल मार्केटिंग कम्पनी,

गुप्ता मिल्स स्टेट, रे रोड,

बम्बई–१०

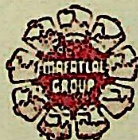
आरोग्य-प्रकाश



आधि—मानसिक रोगोंके लिए जैसे चिन्तामणि है, वैसे ही व्याधि—शारीरिक रोगोके लिए 'आरोग्य-प्रकाश' है। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा. लि. के संस्थापक श्री पं० रामनारायण शर्माने बहुत वर्षोंके श्रमसे इसे लिखा है। ग्रन्थका एक-एक शब्द बहुमूल्य है। पहले भागमें स्वस्थ रहनेके नियम हैं, जिन्हें आचरणमें लाकर प्रत्येक मनुष्य शतायु, सुखायु, हितायु प्राप्त करता है। उत्तरार्धमें शारीरिक रोगोंकी सरल और अनुभूत दवाएँ लिखी हैं। दवाओंमें भारतीय जड़ी-बूटियोंका अधिक भाग है, जिसका व्यवहार करके रोगी स्वास्थ्य-लाभ करता है। ऐसे सर्वजनोपयोगी बहुमूल्य एवं पूर्ण वैज्ञानिक ग्रन्थका मूल्य ४.०० रु० मात्र है। पृष्ठ संख्या ४०० से अधिक। सभी वैद्यनाथ दवा-विक्रेताओंके यहाँ उपलब्ध है।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता, पटना, झाँसी, नागपुर और नैनी (प्रयाग)


MAFATLAL
GROUP

SEARCH AND RESEARCH

Achievement is of the present. Research is the future—vision, new products, new ideas, new discoveries. With ACC, research started with its inception and is a constant quest. To intensify this quest, in 1964 we built a modern Central Research Station at Thana, Bombay, where a selected team of scientists and engineers is at work using highly sophisticated equipment. The result of this endeavour is the wide range of our cements and cement products, necessary for industrial applications) import substitution and for national progress.

ACC—researching today for an improved tomorrow

2978A

THE ASSOCIATED CEMENT COMPANIES LIMITED

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्दात्मा यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

—श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषत्

लालजीमल टीकाराम

हाथरस

फोन नं० : १२९ तार : GANESH

•

शाखाएँ :

कटरा लेहस्वा, चाँदनी चौक

दिल्ली–६

फोन नं० : २६६९६४ फोन नं० घर : २२८१३७

तार : RAMAPATI

•

दुकान नं : ९६

तीसरी गली, मङ्गलदास मार्केट

बम्बई–२

फोन नं० : ३१०९४० फोन नं० घर : २९००८१

तार : KAUSHLESH

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्टके प्रकाशनोंके बिक्री-केन्द्र

१. 'विपुल'
बी० जी० खेर मार्ग
मालबार हिल, बम्बई–६

२. आनन्दकानन
सीके० ३६।२०, ढुण्ढिराज
वाराणसी–१ (उ० प्र०)

३. श्री उड़ियाबाबा आश्रम
पो० वृन्दावन (मथुरा) (उ० प्र०)

४. विद्यावारिधि पुस्तकालय
मोती बाजार, हरिद्वार (उ० प्र०)

५. सत्साहित्य-ग्रन्थागार
दुकान नं० १५,
पुराना मोटर स्टैण्ड
गंजीपुरा, जबलपुर (म० प्र०)

६. सर्वोदय साहित्य-भण्डार
तकियापारा, दुर्ग (म० प्र०)

७. हिन्दी बुक सेन्टर
दरियागंज (मोतीमहलके पीछे)
दिल्ली–६

८. श्रीहरिकृष्ण
धार्मिक पुस्तक-भण्डार
बाजार राजपूता
पानीपत (हरयाणा)

९. भारतीय पुस्तक-भण्डार
नानीगली, जगदीश रोड
उदयपुर (राजस्थान)

१०. श्री मुन्शीराम मनोहर लाल
नयी सड़क, दिल्ली–६

११. श्री सुन्दरलाल
लखनऊ चिकनसाड़ी-हाऊस
चौक, लखनऊ–३ (उ० प्र०)

१२. सर्वोदय साहित्य-भण्डार
महात्मा गाँधी मार्ग
इन्दौर (म० प्र०)

१३. सहयोगी पुस्तक-भण्डार
सी० पी० टैंक
बम्बई–२

14. The International Book Service
Deccan Gymkhana
Poona–4

15. Oriental Book Centre
Manek Chowk
Near Ranina Hajira,
Ahmedabad–1

१६. श्री मधुसूदन शास्त्री
गीता विद्यालय, जामनगर
(गुजरात)

१७. श्री सियाराम शर्मा
विवेक बिल्डिंग, कानपुर

"ॐ भूरसि भूमिरस्यदितिरसि
विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः॥"

—यजुर्वेद २२।२२

"हे बड़ी मां! तुम सम्पूर्ण सुखोंकी दाता हो। तुम्हारा स्वरूप विशाल है। तुम स्वयं देवता हो और देवताओंकी माता हो। तुम सम्पूर्ण विश्वको अपने उदरमें धारण करती हो और उसका भरण-पोषण करती हो। सब प्राणी तुम्हारी गोदमें रहकर तुम्हारा ही दूध पीते हैं। तुम अपनी विशालताको और बढ़ाओ, अपनेको और दृढ़ करो और अपने-आपको कभी क्षीण मत करो।"

INSEPARABLE TWO-
FASHION & KHATAU VOILES

Khatau
VOILES



THE KHATAU MAKANJI
SPG. & WVG. CO. LTD.
Head Office: Laxmi Building,
Ballard Estate, Bombay-1
Mill: Haines Road, Byculla, Bombay
Wholesale Shop: Mulji Jetha Market, Bombay-2

सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट, बम्बईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्दकाननप्रेस, सीके. ३६/२० वाराणसीसे मुद्रित।